# डा० रांगेय राघव के जीवनीपरक उपन्यास

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की एम० फिल० उपाधि
के लिए
प्रस्तुत लघु शोध प्रबन्ध

आशा बत्रा

भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली - 110067

1 9 8 2

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

न्यू मेहरौली रोड,
नई दिल्ली-110067
दिनांक: 26-3-1982

प्रमाणित किया जाता है कि कुमारी आशा बत्रा द्वारा प्रस्तुत 'डा० रांगेय राघव के जीवनीपरक उपन्यास' शीर्षक लघु शोध प्रबन्ध में प्रयुक्त सामग्री का इस विश्वविद्यालय अथवा अन्य विश्वविद्यालय में इससे पूर्व किसी भी प्रदेय उपाधि के लिए उपयोग नहीं किया गया है । यह सर्वथा मौलिक है ।

(डा० (श्रीमती) सावित्री चन्द्र शोभा)
अध्यक्षा
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

(डा० मैनेजर पाण्डेय)
निर्देशक
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

# विषय-सूची


भूमिका : (क) से (ख)

पहला अध्याय :
डा० रांगेय राघव का उपन्यास-साहित्य : 1 - 15
एक सर्वेक्षण :

दूसरा अध्याय :
जीवनचरितात्मक उपन्यास : 16-31

तीसरा अध्याय:
डा० रांगेय राघव के जीवनीपरक उपन्यास : 32-138
(क) साहित्यकारों की जीवनी पर आधारित उपन्यास :
(1) लखिमा की आँखें
(2) लोई का ताना
(3) रत्ना की बात
(4) मेरी भवबाधा हरो
(5) भारती का सपूत

(ख) धार्मिक और समाज-सुधारकों की जीवनी पर आधारित उपन्यास:
(1) यशोधरा जीत गई
(2) देवकी का बेटा

चौथा अध्याय :
उपसंहार : 139-142

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची : 143-149

# भू मि का

डा० रांगेय राघव की उपन्यास - कला पर शोध की दृष्टि से अधिक कार्य नहीं हुआ है और जो थोड़ा बहुत हुआ भी है, वह काफी नहीं है । उनके जीवनीपरक उपन्यासों पर तो कोई स्वतंत्र एवं उल्लेखनीय शोध-कार्य हुआ ही नहीं है । जो थोड़ा-बहुत छुटपुट विवेचन मिलता है उसे पढ़कर मैं इस निष्कर्ष पर पहुंची हूं कि डा० राघव के उपन्यासों विशेषकर जीवनीपरक उपन्यासों पर आवश्यक निस्संगता और गम्भीरता से विचार नहीं हो पाया है ।

इस लघु शोध प्रबन्ध में मैंने डा० राघव के जीवनीपरक उपन्यासों का सांगोपांग, पूर्ण और अंतिम अध्ययन प्रस्तुत कर दिया है - ऐसा दावा मैं नहीं करती । किन्तु इन उपन्यासों के विषय में जो थोड़ा-बहुत समझी हूं, उसे ईमानदारी से मैंने प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । प्रथम अध्याय डा० राघव के संक्षिप्त जीवन-परिचय के साथ-साथ उनके सम्पूर्ण उपन्यास-साहित्य के सर्वेक्षण से प्रारम्भ हुआ है । द्वितीय अध्याय जीवनीपरक उपन्यास के स्वरूप विवेचन से विकसित हुआ है । तृतीय अध्याय में डा० राघव के जीवनीपरक उपन्यासों का वर्गीकरण एवं क्रमशः उनका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है । इस विवेचन के मूल में मेरी यही प्रस्थापना मुख्य रही है कि डा० राघव ने जीवन-चरित्रों के चौखटे में मानव की शाश्वत समस्याओं एवं भावनाओं को ऐसे सजीव रूप में उजागर किया है कि वे व्यक्ति-विशेष के जीवन-चरित्र एवं युग की झांकी के साथ-साथ वर्तमान का भी चित्र प्रस्तुत करते हैं । अंतिम अध्याय(चौथा अध्याय) 'उपसंहार' में सम्पूर्ण कृति का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है ।

इस लघु शोध-प्रबन्ध को पूर्ण करने में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से जिन विद्वानों का सहयोग मिला है उनके प्रति आभार प्रकट करना मेरा पुनीत कर्त्तव्य है ।

यह लघु शोध प्रबन्ध गुरुवर डा० मैनेजर पाण्डेय के निर्देशन में लिखा गया है । उनकी अत्यन्त शोध-परक दृष्टि ने मेरे अध्ययन को सुनिर्दिष्ट रूप दिया है । इसके लिए हार्दिक आभार स्वीकारना पर्याप्त नहीं है ।

मैं उन विद्वानों, आलोकों एवं उपन्यासकारों के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करती हूं जिनकी कृतियों से लाभान्वित हुई ।

आशा वत्रा
(हिन्दी विभाग)
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

मार्च, 1982 ई० ।

# पहला अध्याय

## डा० रांगेय राघव का उपन्यास-साहित्य : एक सर्वेक्षण

## पहला अध्याय

## डा० रांगेय राघव का उपन्यास-साहित्य : एक सर्वेक्षण

हिन्दी साहित्येतिहास में विशेषकर कथा-साहित्येतिहास में डा० राघव का महत्वपूर्ण स्थान है । डा० रांगेय राघव विलक्षण और बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न साहित्यकार थे । इसका पता इसी बात से चल जाता है कि तमिलभाषी होते हुए भी उन्होंने साहित्य-सृजन का कार्य हिन्दी-भाषा में किया । हिन्दी में भी, ऐसा नहीं कि उन्होंने साहित्य के किसी एक ही क्षेत्र में योग्यता हासिल की हो वरन् साहित्य की सभी विधाओं पर उनका एक छत्र आधिपत्य था । साहित्य की अधिकांशत: सभी विधाओं-काव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक, रिपोर्ताज, अनुवाद आदि में उन्होंने महत्वपूर्ण और सराहनीय कार्य किया । इसके अतिरिक्त उनकी कृतियों की बहुसंख्या भी उनकी विलक्षण प्रतिभा का परिचय देती है । ऐसा नहीं कि इन साहित्यिक-विधाओं के उदाहरण स्वरूप, मात्र नमूने के लिये कुछ कृतियां प्रस्तुत की हों । 1944 से 1962 तक के 18 वर्षों में उनके 135 ग्रंथ प्रकाशित हुए । यदि इस संख्या में उनके अप्रकाशित और अपूर्ण ग्रंथ भी सम्मिलित कर लिये जायें, तो यह संख्या और भी बढ़ जाती है ।

डा० राघव ने 1937 में लगभग 14 वर्ष की आयु में ही साहित्य-सृजन का कार्य शुरू कर दिया था । पत्र-पत्रिकाओं में इनके अनेक छुटपुट लेख, गीत इत्यादि छपते थे । 'हंस' पत्रिका में छपे इनके रिपोर्ताज़ों और कहानियों ने इन्हें सशक्त और उच्चकोटि के साहित्यकारों की श्रेणी में खड़ा कर दिया ।

फलस्वरूप इनकी अनेक कृतियां एक के बाद एक प्रकाशित होती रहीं और हिन्दी-साहित्य का भण्डार समृद्ध होता गया । इनकी सभी कृतियों को एकत्रित कर उसे एक भरपूर खजाने का नाम दिया जा सकता है, और यह कहा जा सकता है कि डा० राघव के सहयोग से हिन्दी-साहित्य को एक खजाना मिल गया है । इस खजाने में केवल एक ही 'करेन्सी' हो ऐसा नहीं है । इसमें एक ही तरह की 'करेन्सी' न होकर तरह-तरह की 'करेन्सीस' का समावेश है । अर्थात् डा० राघव ने जहां एक ओर काव्य, कथा, कहानी, उपन्यास, नाटक, रिपोर्ताज़, अनुवाद आदि के क्षेत्र में योगदान दिया, वहां दूसरी ओर इतिहास, पुरातत्व, कला, समाजशास्त्र, समीक्षा आदि के क्षेत्रों में भी महत्वपूर्ण और सराहनीय कार्य किया । यह उनकी विलक्षण और बहुमुखी प्रतिभा का परिचायक है ।

डा० राघव की विलक्षण प्रतिभा का परिचय इसी बात में नहीं मिलता कि इन्होंने साहित्य की सभी विधाओं को अपनाया वरन् इस बात में भी है कि यह सब इन्होंने बहुत थोड़े समय में जल्दी-जल्दी किया, जैसे कोई सिर पर डंडा लिये खड़ा हो । 1940 से 1962 तक के समय में इन्होंने 135 से भी अधिक ग्रंथों की रचना की । उनके इस श्रम-साफल्य की प्रशंसा उनके सहयोगियों ने भी की । उनके मित्र डा० टी० एस० के० आचार्य ने लिखा है :--

'पम्मू (डा० राघव) एक विकट लेखक था । प्रतिदिन औसतन दस-बारह घण्टे वह परिश्रम किया करता था । लेखनी ही उसकी परम मित्र थी और उसकी इच्छा की दासी थी ।'[1] डा० राघव ने स्वयं भी अपनी इस विलक्षण-प्रतिभा की ओर संकेत किया है :---

'मुझे किसी पुस्तक-विशेष की रूपरेखा बनाने में देरी लग सकती है, पर लिखने में तो समय नहीं लगता । 'राहें और पर्वत' को मैंने तीन दिन में

पूरा कर लिया था । 'कब तक पुकारूं' जैसे वृहदकाय उपन्यास के लिए महीना भर काफी रहा । शेक्सपियर की अनुवाद-पुस्तकें एक-एक दिन में समाप्त कीं ।'[2]

इस प्रकार उनके लिखने में तेजी थी । इस तेजी का कारण बताते हुए डा० भारत भूषण अग्रवाल ने लिखा :---

'उनकी उतावली भी इसका कारण थी । अपना काम पूरा करने की उतावली और उनका अपना काम था अपनी दृष्टि से भारतीय-इतिहास और समाज का प्रगतिशील चित्रण ।'[3]

वास्तव में डा० राघव के सम्पूर्ण साहित्य के मूल में यही भावना कार्य कर रही है । यही उनके साहित्य-सृजन का मुख्य ध्येय था । उन्होंने स्वयं भी इस ओर संकेत किया है :---

'घरौंदे के बाद मेरे सामने दो रूप खड़े हुए । एक ओर जीवन के यथार्थ ने मुझे वर्तमान में अपनी ओर अधिक खींचा, तो दूसरी ओर भारत की आत्मा उसकी यात्रा और संस्कृति की महान गति ने मुझे आकर्षित किया और मैंने अतीत के विभिन्न युगों के संघर्षों में मनुष्य को पहचानने का प्रयत्न किया ।'[4]

डा० राघव के सम्पूर्ण साहित्य के मूल में 'मनुष्य की पहचान' की भावना ही मुख्य रही है । उपन्यासों में यह ज्यादा बलवती दिखाई देती है । अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उनके सम्पूर्णउपन्यास-साहित्य को पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है :---

1. सामाजिक उपन्यास
2. ऐतिहासिक उपन्यास
3. आंचलिक उपन्यास
4. जीवनीपरक उपन्यास
5. अनूदित उपन्यास

डा० राघव के सामाजिक उपन्यासों के माध्यम से प्रेमचन्द की परम्परा को बढ़ावा मिला है । लेखक ने शहरी और ग्रामीण समाज की समस्याओं को बहुत

ही सजीवता से उभारा है । इनके सामाजिक उपन्यासों में मुख्य हैं -- घरौंदे (1946), विषादमठ (1946), सीधा-सादा रास्ता (1951), हुजूर (1952), उबाल (1954), बौने और पायल फूल (1957), बन्दूक और बीन (1958), राई और पर्वत (1958), छोटी-सी बात (1959), पापी (1960), बोलते खण्डहर (1955), अन्धेरे की भूख (1955), दायरे (1961), आग की प्यास (1961), कल्पना (1961), पतझर (1962), प्रोफेसर (1962), पराया (1962), आखिरी आवाज (1962) और नवाब के वारिस ( अनुपलब्ध ) उल्लेखनीय हैं । 'घरौंदे' डा० राघव का प्रथम मौलिक सामाजिक उपन्यास है । 'मेरा पहला प्रकाशित उपन्यास घरौंदे था, जो कॉलेज-जीवन में लिखा था ।' (राघव) यह उपन्यास कालेज-जीवन की बहुविध समस्याओं पर आधारित है । उपन्यास के मुख्य पात्रों रानी, इन्दिरा, कामेश्वर और हरी के माध्यम से छात्र-छात्राओं में चलने वाले प्रेम एवं सहशिक्षा के दुष्परिणामों की ओर संकेत किया गया है । प्रोफेसर मिश्रा और उनकी पत्नी के माध्यम से अध्यापक एवं छात्राओं के बीच होने वाले घात-प्रतिघातों एवं अध्यापक-वर्ग के नैतिक-पतन की ओर संकेत किया है । नादानी के माध्यम से वेश्या-समस्या का अत्यंत ही कारुणिक-चित्रण प्रस्तुत किया है । 'उबाल' उपन्यास में ग्रामीण और शहरी जीवन के अनेक चित्रों को उजागर किया गया है । दोनों की सतरंगी दुनिया के चित्रण के माध्यम से लेखक ने प्रेम के महत्व को प्रतिपादित किया है । उपन्यास का सम्पूर्ण घटना-चक्र सत्यपाल, चन्दा, सरस्वती, मनोरमा, हरीश इत्यादि पात्रों के भावनात्मक उबालों पर आधारित है । 'बौने और पायल फूल' उपन्यास में समाज के मध्यवर्गीय नारी-जीवन की बहुविध समस्याओं यथा विधवा-विवाह , अनमेल-विवाह आदि को लेकर चला है । 'बन्दूक और बीन' उपन्यास में सैनिक-जीवन का सजीव चित्रण मिलता है । लेफ्टिनेण्ट कर्नल रणवीर के माध्यम से युद्ध और प्रेम की समस्याओं को उठाया गया है ।'राई और पर्वत' उपन्यास में राई के समान लघु और पर्वत के समान विराट कैन्वस वाले इस उपन्यास में आज के ग्रामीण-समाज को उजागर किया है । लेखक ने बाल-विवाह, जाति-प्रथा, विधवा-विवाह इत्यादि का बड़ा ही सजीव चित्रण

प्रस्तुत किया है । 'छोटी सी बात ' उपन्यास समाज के उच्चवर्ग और मध्यवर्ग के स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को लेकर चला है । इसमें एक साथ ही सामाजिक, साहित्यिक एवं राजनैतिक समस्याओं को उठाया गया है । ग्रामीण जीवन के ही चित्रण की दृष्टि से 'पापी' उपन्यास भी सराहनीय बन पड़ा है । यह उपन्यास ग्रामीण जीवन की समस्याओं जातिवाद, घूसखोरी, मुकदमा, दहेज, अंधविश्वास इत्यादि को लेकर चला है । 'दायरे ' के मुख्य पात्र सत्यदेव की आप बीती के माध्यम से सामाजिक-विषमताओं को सजीवता से उभारा गया है। भारतीय संस्कृति की उदात्तता सिद्ध करने में लेखक का रुफान रहा है । सत्यदेव और फादर तोलिया के रूप में डा० राघव ने भारतीय-संस्कृति के दो अमर पात्र हमें प्रदान किये हैं । 'आग की प्यास ' का ढांचा मध्यवर्गीय सामाजिक समस्याओं विशेषत: यौन-समस्या पर आधारित है । 'कल्पना ' उपन्यास असफल प्रेमी-प्रेमिका की कथा पर आधारित है, जिसके माध्यम से अनमेल-विवाह की समस्या को उठाया गया है । दार्शनिक वर्णनों की भरमार के कारण, पतझर जैसी शुष्कता एवं नीरसता लिए 'पतफर ' उपन्यास शहरी-जीवन को लेकर चला है । पतफर में पुराने पत्ते फड़ जाते हैं फिर बसन्त-ऋतु में नयी कोंपले फूटती हैं, उसी तरह पुरानी पीढ़ी और उनके विचार नष्ट हो जाते हैं और नयी पीढ़ी और नये विचार अपना स्थान बना लेते हैं । पुराने और नये के इसी संघर्ष को प्रस्तुत उपन्यास में रूपायित किया गया है । मूल समस्या जातिवाद की है । एक पात्र डाक्टर के माध्यम से जातिवाद के दुष्परिणामों की ओर संकेत किया गया है । साथ ही प्रेम के वासनामय रूप की निन्दा करते हुए उसे मानववादी दृष्टिकोण से विश्लेषित किया गया है । प्रेमचन्दीय सेवासदनों और प्रेमाश्रमों का नाजायज़ फायदा उठाकर समाज के ठेकेदार भिखारी और वेश्या-समस्या को पनपने में अपना सहयोग देते हैं । 'प्रोफेसर ' उपन्यास में इसी तथ्य को प्रस्तुत किया गया है । समाज के उच्च-वर्ग और निम्न-वर्ग की समस्याओं को भी केन्द्र में रखा गया है । 'पराया ' उपन्यास स्त्री-पुरुष के संबंधों को लेकर चला है । शोभा, मालती के माध्यम से नारी-जाति की कर्तव्य-परायणता,

कर्मठता के महत्व को प्रतिपादित किया गया है । वैश्या-समस्या का समाधान भी प्रस्तुत किया गया है । इसके अतिरिक्त पूंजीवादी प्रवृत्ति का भी सजीव चित्र अंकित किया गया है । स्वतंत्रता पश्चात परिवर्तित ग्रामीण-जीवन के यथार्थ चित्रण की दृष्टि से 'आखिरी आवाज' एक महत्वपूर्ण उपन्यास है । प्रेमचन्द के उपन्यासों की ही भांति इसमें गांवों के टूटते हुए मजदूर किसानों की समस्याओं को उठाया गया है । इस उपन्यास को प्रेमचन्द-परम्परा की ही एक महत्वपूर्ण कड़ी कहा जा सकता है । 'बोलते खण्डहर' और 'अंधेरे की भूख' इन दोनों ही उपन्यासों में भूत-प्रेतों की कहानियां हैं । अतएव ये साधारण उपन्यास हैं । 'विषादमठ' बंगला भाषा के उपन्यासकार बंकिमचन्द्र के 'आनन्दमठ' के प्रत्युत्तर में लिखा गया है । सन् 1943-44 के बंगाल के भीषण दुर्भिक्ष पर कथा निर्मित की गई है । लेखक ने अकाल-पीड़ित जनता की त्रस्त-मानवता का करुणापूर्ण चित्रण किया है । 'सीधा-सादा रास्ता' श्री भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के प्रत्युत्तर में लिखा गया एक वृहदाकार उपन्यास है । 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में स्वतंत्रता-पूर्व की कहानी प्रस्तुत की गई है और 'सीधा-सादा रास्ता' में उसी कथा को आगे बढ़ाते हुए स्वतंत्रता-पश्चात की कहानी प्रस्तुत की गई है । शिल्पगत नवीन प्रयोग की दृष्टि से 'हुजूर' उपन्यास का स्थान अद्वितीय है । यह उपन्यास कुत्ते की आत्म-कथा पर आधारित है । इसमें शोषित समाज की दशा को पशुओं से भी बदतर सिद्ध किया गया है । कुत्ते के माध्यम से सामाजिक विषमताओं शोषण इत्यादि के अनेक चित्र खींचे गये हैं । 'नवाब के वारिस', 'अन्धे का गीत' और 'पांच गधे' नामक उपन्यास साधारण कोटि के उपन्यास हैं ।

डा० राघव ने ऐतिहासिक उपन्यासों की भी रचना की है । ऐतिहासिक उपन्यासों के माध्यम से इतिहास की भूली-बिसरी घटनाओं को उजागर किया है । इसलिए इतिहास का एक बहुत बड़ा हिस्सा इनमें साकार हो उठा है । इतिहास के माध्यम से मनुष्य की पहचान करायी है । लेखक ने स्वयं अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के विषय में लिखा है- 'प्राय: ही मैंने अपने ऐतिहासिक रचनाओं

मैं युग को देखा है और युग के माध्यम से देखा है व्यक्ति । और व्यक्ति के बारे में कह सकता हूं कि यह निरन्तर सत्य की खोज करता रहा है ।" डा० राघव के ऐतिहासिक उपन्यासों में भी सामाजिक यथार्थ की अविच्छिन्नता को उजागर किया है । साथ ही इतिहास से संस्कृति की विरासत को ग्रहण करने का सफल प्रयास भी किया है । इनके ऐतिहासिक उपन्यासों में 'मुर्दों का टीला ' (1948) ' चीवर ' (1951), 'अन्धेरे के जुगनू ( 1953), 'पत्ती और आकाश ( 1958) , 'धूनी का धुंआ ' (1958), 'राह न रुकी ' (1958), 'महायात्रा ! अन्धेरा रास्ता ' (1960) , महायात्रा : रैन और चंदा (1960), 'आंधी की नींव (1961), प्रतिदान ' और 'जब आवेगी काल घटा ' (1962) मुख्य हैं । 1922 में हड़प्पा और मोहन-जोदड़ों में हुई खुदाई से एक महानगर के अवशेष मिले । उस महानगर के विनाश की महागाथा का तत्कालीन वातावरण में जीवन्त पात्रों के साथ 'मुर्दों का टीला ' में विवेचन प्रस्तुत किया है । इसमें मोहनजोदड़ों की संस्कृति का बड़ा ही सजीव चित्रण हुआ है । लेखक ने मानो टीला खोदकर मृत इतिहास में भी जान फूंक दी है । हर्षकालीन सामन्ती व्यवस्था के चित्रण की दृष्टि से 'चीवर ' उल्लेखनीय है । साथ ही तत्कालीन व्यवस्था पर बौद्ध-धर्म के उत्कृष्ट व्यापक प्रभाव को भी दर्शाया गया है । यशपाल की दिव्या जहां बौद्ध-धर्म के सिद्धांतों पर व्यंग्य करती है, वहां प्रस्तुत उपन्यास की नायिका राज्यश्री बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर उसकी महत्ता को गौरवान्वित करती है । गणतंत्रात्मक शासन-प्रणाली के क्रमिक-विकास-दर्शन की दृष्टि से 'अन्धेरे के जुगनू ' उल्लेखनीय है, जिसके लिए लेखक ने महाभारत के सात सौ या आठ-सौ वर्ष बाद, बुद्ध से चार-पांच सौ साल पहले के समय को आधार बनाया गया है । 'राह न रुकी ' में बुद्ध-महावीर की सामन्ती-व्यवस्था को उजागर किया गया है । जैन-धर्म को इसमें उत्कृष्ट बताया गया है । 'राह न रुकी ' उपन्यास की ही भांति 'पत्ती और आकाश ' उपन्यास में भी बुद्ध-महावीर युग की सामन्ती-व्यवस्था को उजागर किया गया है । किन्तु नितान्त काल्पनिक है । धनकुमार के माध्यम से

जीवन की शाश्वत समस्याओं का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है । 'प्रतिदान' उपन्यास में महाभारत-कालीन प्रसिद्ध कथा को औपन्यासिक रूपान्तर दिया गया है । पांचाल नरेश द्रुपद द्रोणाचार्य का अपमान कर देता है, यद्यपि दोनों एक साथ विद्या ग्रहण करते हैं । द्रोण में भीषण प्रतिहिंसा प्रज्वलित हो उठती है और वह अपने शिष्यों की सहायता से द्रुपद के अभिमान का दलन करता है । परन्तु द्रुपद के पैरों में पड़ने पर उसे क्षमा करके गले लगा लेते हैं । सम्पूर्ण उपन्यास इसी कथा पर आधारित है । 'आंधी की नींवें' उपन्यास की कथा महाराणा प्रताप और अकबर के संघर्ष को लेकर चली है । महाराणा प्रताप ने एक जननायक की हैसियत से अकबर से युद्ध किया- इसी प्रसंग को लेकर कथानक का ढांचा निर्मित हुआ है । इसी के माध्यम से महाराणा प्रताप की पत्नी महारानी लक्ष्मी के त्याग और संघर्षमय जीवन-चरित्र को भी उभारा गया है । 'धूनी का धुंआ' कृति में महान् योगी गोरखनाथ और उनके नाथ-सम्प्रदाय को कथा के रूप में रूपायित करने का प्रयास किया गया है । गोरखनाथ के नाथ सम्प्रदाय के पीछे उनकी मानवतावादी और युगान्तरकारी दृष्टि थी, जिसे आज विस्मृत कर दिया गया है । उसी का स्मरण प्रस्तुत कृति के माध्यम से कराया गया है । लेखक ने गोरखनाथ और नाथ-सम्प्रदाय की महत्ता को, उनके महत्वपूर्ण कार्यों को उंगलियों पर एक-एक करके समझाकर अत्यंत सुलझे हुए रूप में प्रस्तुत किया है । इसी तरह 'जब आवेगी काली घटा' उपन्यास की कथा नाथपन्थियों एवं खिलजी वंश के शासकों की गतिविधियों के सम्यक् विवेचन को लेकर चली है । नाथपंथीय इतिहास का चर्पटनाथकालीन युग राजनीतिक दृष्टि से अव्यवस्था, दिशृंखलता, गृह-कलह और पराजय का युग था, जिसे लेखक ने अत्यंत सजीवता से अंकित किया है । मानवीय सभ्यता के विकास को ऐतिहासिक संदर्भों में विवेचित करने की सराहनीय प्रयास के रूप में 'महायात्रा: गाथा' (प्रथम भाग) अंधेरा-रास्ता' और महायात्रा : रैन और चंदा (द्वितीय भाग) उल्लेखनीय एवं ऐतिहासिक उपन्यासों की श्रृंखला की महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में सामने आये हैं । महायात्रा: गाथा (अंधेरा रास्ता) में प्रागैतिहासिक काल से 1500 ई० पूर्व तक का, और महायात्रा: (रैन और चंदा) में 1500 ई० पू० से

लेकर 1200 ई० तक की मानव-विकास की गाथा अंकित है । लेखक के ये ऐतिहासिक उपन्यास मात्र इतिहास का कथात्मक चित्रण ही नहीं है । कल्पना और इतिहास का समन्वय शायद कोई भी अन्य ऐतिहासिक उपन्यासकार इतनी सम्पूर्णता से नहीं कर पाया है ।

डा० राघव ने कुछ उपन्यासों में कथा-क्षेत्र अंचलों को बनाया है और उनके माध्यम से अंचल-विशेष की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक समस्याओं का यथार्थ चित्रांकन किया है । इनके आंचलिक उपन्यास स्वातंत्र्योत्तर-काल की एक महान् उपलब्धि के रूप में सामने आये हैं । इनमें मुख्य हैं : 'काका' (1953) , 'कब तक पुकारूं' (1957), 'धरती मेरा घर' (1961) । 'काका' डा० राघव का प्रथम आंचलिक उपन्यास है । मथुरा के नागरिक अंचल से सम्बद्ध है और मथुरा के पण्डा - समाज की मान्यताओं को प्रस्तुत करता है । स्थानीय-भाषा का पुट इसे विशेष सजीवता प्रदान करता है । 'कब तक पुकारूं' में भरतपुर के समीप रहने वाले करनट नामक नट-जाति का वर्णन है । करनट जाति के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का सजीव चित्रण हुआ है । 'धरती मेरा घर' डा० राघव का अंतिम आंचलिक उपन्यास है । इसमें लोध-पीटों के जीवन को कथा का आधार बनाया है । डा० राघव ने अपने आंचलिक उपन्यासों में एक समाजशास्त्री के नाते अंचल-विशेष के जीवन का न केवल सूक्ष्म निरीक्षण किया है बल्कि एक उपन्यासकार के नाते इनसे आत्मीय संबंध भी स्थापित किया है । यही कारण है कि इन आंचलिक उपन्यासों की आंचलिकता नष्ट नहीं होने पाई है ।

एक महान उपलब्धि एवं हिन्दी उपन्यास की नयी दिशा प्रदान करने में डा० राघव के जीवनीपरक-उपन्यासों सर्वथा अलग एवं महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं । 'लोई का ताना' (1954), रत्ना की बात (1954), भारती का सपूत (1954), यशोधरा जीत गई (1954) , देवकी का बेटा (1954), लखिमा की आंखें (1957), मेरी भवबाधा हरो (1960) इनके जीवनीपरक उपन्यास हैं । इनमें क्रमश: कबीर, तुलसी, भारतेन्दु, महात्मा बुद्ध,

श्रीकृष्ण, विद्यापति और बिहारी के जीवन-चरित्रों को उपन्यस्त किया गया है । इन्हें लेखक ने नये परिवेश में संवारा है और आधुनातन दृष्टिकोण से परखने का प्रयास किया है ।

डा० राघव ने विदेशी भाषा के 45 उपन्यासों का अनुवाद भी किया है, जिनका संग्रह 'संसार के महान् उपन्यास ' ग्रंथ में मिलता है । ग्रंथ की भूमिका के अनुसार 'प्रस्तुत ग्रंथ में संसार के महान् उपन्यासों की रूपरेखा तथा परिचय दिया गया है, जो एक संदर्भ ग्रंथ के रूप में भी लाभदायक रचना सिद्ध हो सकती है । अभी हिन्दी में इन सभी प्रसिद्ध ग्रंथों के अनुवाद भी प्राप्त नहीं होते । आशा है पाठकों को विदेशी साहित्य का यह संक्षिप्त परिचय एक नया विस्तार देगा ।' लेखक ने उपन्यासों के शुरू में उपन्यासकार का संक्षिप्त जीवन-परिचय और अन्त में उपन्यास की संक्षिप्त समीक्षा भी प्रस्तुत की है । इन 45 उपन्यासों को चार भागों में विभाजित कर अनूदित किया है । यथा सामाजिक उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यास, रोमांस उपन्यास और ऐतिहासिक उपन्यास । सामाजिक उपन्यासों में -- गोल्डस्मिथ का देहात का पादरी (द विकार आफ वेकफील्ड), गेटे का सुख की खोज (विल्हेम मीस्टर), जेन आस्टिन का जय-पराजय (प्राइड एण्ड प्रेजुडिस), बाल्जाक का खण्डहर (पियरे गोरियो) एच० बी० स्टो का टाम काका की कुटिया (अंकिल टाम्स केबिन), चार्लोटे ब्रोंटे का अनाथिनी '(जेन आयर) एमिली ब्रोंटे का 'प्रेम की पिपासा ' (वुदरिंग हाइट्स), अलेक्जेंडर ड्यूमा फिल्म्स कृत 'त्याग और प्रेम ' (कैमिले) एमिल जोला-'नाना' हेलेन जैक्सन का 'प्रेम के बन्धन ' (रमोना), ऐल्काट का' एक परिवार' (लिटिल वीमेन), टामस हार्डी का 'अभागिन ' (टेस आफ द ड्यूबरविले), गॉस्टा बर्लिंग ' रूप की घुटन ' (सेल्मा लागर लोफ) जेम्स मैथ्यू बेरी कृत 'गांव ' (लिटिल मिनिस्टर), एडिथ व्हार्टन का पीड़ा का भाग (इथेन फ्रोम), मैक्सिम गोर्की कृत माँ (द मदर) पर्ल एस० बक का धरती माता (द गुड अर्थ ) उपन्यासों का अनुवाद किया है । मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में तुर्गनेव का मेरा पहला प्यार (माई फर्स्ट लव), दोस्तोवस्की का 'परिवार और बन्धु ' ( द ब्रदर्स करामजोव) फ्लाबेयर 'अधूरा स्वप्न (मादाम बावेरी),

स्टीवेन्सन 'इन्सान या शैतान (डा० जैकिल एण्ड मिस्टर हाइड), मोपासां 'एक औरत की ज़िंदगी (यूने वी), आस्कर वाइल्ड 'अपनी छाया ' (द पिक्चर आफ डोरियन ग्रे, रोम्यां रोलां- 'जां क्रिस्तोफ', सामरसेट माम -'बरसात' (द रैन), डी० एच० लारेन्स - पुत्र और प्रेमी (सन्ज एण्ड लवर्स), अर्नेस्ट हेमिंग्वे- सागर और मनुष्य (द ओल्ड मैन एण्ड दि सी ) पास्तेरनाक-डा० ज़िवागो, आल्बेयर कामू- अजनबी (द स्ट्रेंजर ) उपन्यासों का अनुवाद किया है । रंजक उपन्यासों में सर्वांते कृत तीसमारखां (डान क्विक्जोट), डैनियल डिफो- 'राबिन्सन क्रूसो ', मेरी ब्लू० शेली का 'भयंकर कृति ' (फ्रेंकेंस्टीन), विल्की कालिन्स- चन्द्रकान्त मणि (द मूनस्टोन ), राइडर हैगार्ड- रहस्यमयी (शी) एच० जी० वेल्स- लोकों का युद्ध (द वार आफ द वर्ल्ड्स), क्लार्क स्मिथ कृत 'क्रितिज़ के पार के कीड़े ' (द अमेजिंग प्लैनेट ) उपन्यासों को अनूदित किया है । ऐतिहासिक उपन्यासों में वाल्टर स्काट कृत 'वीर सिपाही ' (आइवनहो), अलेक्जेंडर ड्यूमा कृत 'तीन तिलंगे ' ( द थ्री मस्केटियर्स), विक्टर ह्यूगो- 'पेरिस का कूबड़ा ' ( द हंचबैक आफ द नोत्र दाम), लिटन का 'अंतिम दिन ' (द लास्ट डेज़ आफ पोम्पई), डीकेन्स कृत - 'दो नगरों की कहानी ' (ए टेल आफ टू सिटीज़ ) बूलेमोर का डाकू और सुन्दरी (लोरना डून), सीनकी- विक्ज़ - 'जब रोम जल रहा था ' (क्वो वादिस), पियरे लुई- 'यौवन की आंधी (अफ्रोदिते ), एवं तालस्ताय के 'युद्ध और शांति ' ( वार एण्ड पीस) को अनूदित करने का सराहनीय प्रयास किया है ।

डा० राघव के इन सभी सामाजिक, आंचलिक, ऐतिहासिक एवं जीवनीप्रधान उपन्यासों में कमोबेश रूप में उनकी मार्क्सवादी और गांधीवादी विचारधारा का प्रभाव दिखाई पड़ता है । जिसके कारण कुछ आलोचकों ने डा० राघव को 'मार्क्सवादी ' और कुछ ने 'गांधीवादी ' विचारक घोषित किया है । वास्तव में उनकी इन धारणाओं के मूल में उनका संकुचित दृष्टिकोण ही कार्य कर रहा है । क्योंकि किसी भी साहित्यकार को मात्र उसके युगीन

प्रभावों के कारण किसी भी वाद-विशेष में बांधना ठीक नहीं है । डा० राघव को भी वादों की घेरेबन्दी में रहना पसन्द नहीं था । इसी कारण वे किसी एक 'वाद' के होकर नहीं रह गये थे । डा० टी० एस० के० आचार्य के शब्दों में '×××× लेकिन प्रचलित 'वादों' से उसने कभी समझौता नहीं किया । संकुचित दायरे में लिखने की कल्पना ही उसे घृण्य मालूम पड़ती थी । वह कहा करता कि 'सिद्धान्त-लेखक को गुलाम बना देते हैं । मैं तो पक्षी की तरह स्वतंत्र विचरते हुए विहंगम दृष्टि से दुनिया का अवलोकन करना चाहता हूं । बल्कि आकाशचारी की भांति समय को भी लांघ जाना चाहता हूं ।'[7]

वास्तव में, युगीन परिस्थितियों का लेखक की विचारधारा पर बहुत प्रभाव पड़ता है । डा० राघव ने जिन दिनों साहित्य-सृजन आरम्भ किया, उन दिनों प्रगतिशील-आन्दोलन जोरों पर था । डा० राघव उससे प्रभावित हुए बिना न रह सके । फलस्वरूप तद्‌युगीन गांधीवादी और मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव उन पर पड़ा, जिसे उन्होंने अपनी कृतियों में स्थान दिया । इसी कारण कुछ लोगों ने उन्हें मार्क्सवादी और कुछ ने गांधीवादी विचारक घोषित कर दिया । हमारे मत में वे किसी एक ही वाद का झंडा लेकर नहीं चले वरन् उन्हें जो भी अच्छा लगा, उसे अपनाया और अपनी कृतियों के माध्यम से पाठकों तक पहुंचाया । डा० राघव ने भी इसे स्पष्ट स्वीकारा है --' मैं किसी वाद में सीमित नहीं हो जाता, क्योंकि मैंने किसी की नकल नहीं की । मैंने उपन्यास का मूलाधार भी अन्य अभिव्यक्तियों के रूपों की भांति भाव को माना है, और भाव के विषय में मेरा मत स्पष्ट ही है कि लोक-कल्याण को समन्वित करके ही युग-सत्य के बीच मनुष्य की चेतना का निखार भाव को लेकर चलता है ।××× न मैं यौनवादी तृष्णा में व्यक्तिवाद और प्रयोगवाद का आश्रय लेना चाहता हूं, न प्रगतिवाद के चोले में अपने को यांत्रिक बना सकता हूं । मेरे सामने इतिहास है, जीवन है, मनुष्य की पीड़ा है और वह मनुष्य की चेतना जो निरन्तर अन्धकार से लड़ रही है और इससे बढ़कर अभी तक कोई सत्य मेरे सामने नहीं आया है ।'[8]

वास्तव में डा० राघव की विचारधारा एकांगी नहीं है, उन्हें किसी एक 'वाद' के संकीर्ण दायरे में नहीं जकड़ा जा सकता है। यह उनकी विलक्षण और अद्भुत प्रतिभाशक्ति का ही परिचायक है।

डा० राघव की इस विलक्षण और बहुमुखी प्रतिभा का आभास हमें उनके शैली-शिल्प में भी दृष्टिगोचर होता है। उनके भावों की भांति भावाभिव्यक्ति का ढंग भी विलक्षण है।

डा० राघव दक्षिण-प्रान्त के थे। वे तमिलभाषी थे, हिन्दी भाषी नहीं। अपनी मातृभाषा तमिल के स्थान पर उन्होंने हिन्दी भाषा को साहित्य-सृजन का माध्यम बनाया। तमिल-भाषा की अपेक्षा हिन्दी-भाषा के प्रति इतना लगाव था कि उन्होंने स्पष्ट रूप से हिन्दी का गौरवगान करते हुए कहा कि :

"मैं हिन्दी के लिए ही जीता रहा हूं और उसी के लिए मैं जीता रहूंगा। मैं तो हिन्दी को ही अपना जीवन न्यौछावर कर चुका हूं।"[9]

इसी प्रकार उनकी लिखने की शैली भी नितान्त निजी थी। किसी की नकल उन्होंने नहीं की। इसी कारण डा० भारत भूषण अग्रवाल ने भी उनकी शैली का गौरवगान इन शब्दों में करते हुए कहा --"सच पूछिए तो हम लोगों की गोष्ठी में उसके बारे में यह मजाक बराबर प्रचलित रहता था कि वे तोलकर लिखते हैं। कलम तोलकर नहीं, कागज तोलकर।"[10] इस विलक्षण और बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न होते हुए भी डा० राघव के साहित्य की उपेक्षा होती आई है। अभी उनकी असामयिक मृत्यु के पश्चात् उनके साहित्य के प्रति आलोचकों की उदासीनता को लक्षित किया गया। "नेमिचन्द्र जैन ने तो स्पष्ट कह डाला कि :--

"उनकी अधिकांश रचनाओं में संयम और चयन की, स्रष्टा के मौलिक कलाबोध की, स्थिर सम्वेदना की बड़ी भारी कमी है ××× आत्मा को झकझोरने वाली तीव्र अनुभूति का प्रचण्ड वेग बहुत ही कम, उनमें बुद्धि का विलास अधिक है, मन का विक्षोभ कम। इसलिये इतना अधिक लिखने पर भी ( या कि इसी कारण

ही ?) रागेय राघव हिन्दी कविता या उपन्यास के क्षेत्र में वह स्थान कभी न प्राप्त कर पाये जो उनके कई समकालीनों या परिवर्तियों को केवल एक-दो रचनाओं के बल पर ही सहज प्राप्त हो सका है ।"[11]

कुछ आलोचकों ने डा० राघव के अधिकांश लेखन को जिद और आग्रह का परिणाम माना है । उन्होंने जिद और आग्रह के कारण इतना अधिक लिखा है कि कोई भी आलोचक उनकी आलोचना करने का साहस नहीं कर सका । किन्तु, यह उनकी जिद का परिणाम नहीं वरन् उनकी विलक्षण प्रतिभाशक्ति ही थी जिसके आधार पर वे इतना साहित्य-सृजन कर पाये । आज या यों कहें कि उनकी मृत्यु के पश्चात डा० राघव का महत्व बहुत बढ़ गया है । कुछ व्यक्ति जो अपने जीवनकाल में नगण्य या उपेक्षित समझे जाते हैं, मृत्यु के पश्चात उनका महत्व बढ़ जाता है । ऐसे ही व्यक्तियों में डा० राघव हैं । अपने जीवनकाल में उन्हें इतनी प्रसिद्धि प्राप्त नहीं हुई थी जितनी आज मिल रही है । डा० राघव शायद इस परिस्थिति को पहले ही भांप गये थे । इसी कारण उन्होंने स्वयं राजेन्द्र अवस्थी से बातचीत के दौरान कहा था --" अच्छा साहित्य हमेशा हीरे की तरह चमकता रहता है । मुझे विश्वास है कि मेरी रचनाएं अभी नहीं, मेरे मरने के बाद सिर पर उठाई जायेंगी, मैंने खून-पसीना बहाकर लिखा है, खेल नहीं किया है ।"[12]

इस प्रकार हम देखते हैं कि डा० राघव की विलक्षण विधायिनी प्रतिभा शक्ति ने ऐसे - ऐसे अमूल्य ग्रन्थों की सर्जना की है, जिनसे उनकी कला सदैव अपने को हीरे की तरह चमकाती रहेगी ।

--00000--

## पाद टिप्पणियां :


1. साहित्य-सन्देश (रांगेय राघव स्मृति अंक) ।
2. साहित्य-सन्देश - 1956, आधुनिक उपन्यास अंक ।
3. कवि की दृष्टि - डा० भारत भूषण अग्रवाल ।
4. साहित्य-सन्देश - आधुनिक उपन्यास अंक ।
5. - वही - ।
6. - वही - (रांगेय राघव स्मृति अंक) ।
7. संसार के महान उपन्यास - डा० राघव (भूमिका से उद्धृत ) ।
8. साहित्य- सन्देश - आधुनिक उपन्यास अंक ।(पृष्ठ 87)
9. ,, रांगेय राघव स्मृति अंक ।
10. - वही - ।
11. धर्मयुग - नेमिचन्द्र जैन ।
12. साहित्य-सन्देश - रांगेय राघव स्मृति अंक ।

# दूसरा अध्याय

## जीवनचरितात्मक उपन्यास

## दूसरा अध्याय

## जीवनचरितात्मक उपन्यास

उपन्यास की अनेक परिभाषाएं मिलती हैं, किन्तु उनके मूल में एक तथ्य समान है और वह यह कि उपन्यास मानव-जीवन से सम्पृक्त है । मुंशी प्रेमचंद के शब्दों में " मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है ।"[1] उपन्यास मानव-जीवन का सर्वांगीण चित्रण करता है । वास्तव में उपन्यास आज के मानव-जीवन की परिस्थितियों के फलस्वरूप उद्भूत साहित्य विधा है । उपन्यास में मानव के संघर्षपूर्ण जीवन का, उसके समाज में बनते-बिगड़ते सम्बन्धों का चित्रण जिस सुन्दरता और समग्रता से हो सकता है उतना दूसरी विधा में नहीं । यही कारण है कि आज उपन्यास गद्य की सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रमुख साहित्य विधा बन गई है ।

आज उपन्यास विधा अनेक नये-नये रूपों में हमारे सामने आ रही है । प्रेमचन्द्रपूर्व से लेकर आज तक का उपन्यास-साहित्य इसका प्रमाण है । यदि हम हिन्दी-उपन्यास के इतिहास पर दृष्टि डालें तो पता चलेगा कि हिन्दी उपन्यास प्रेमचन्द्र पूर्व युगीन कल्पना की खोखली दुनिया की उन्मुक्त उड़ान भरता हुआ (देवकी नन्दन कृत चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता-सन्तति, भूतनाथ आदि) प्रेमचन्द युगीन यथार्थ के ठोस धरातल पर उतरा (प्रेमचन्द कृत निर्मला, गबन, गोदान इत्यादि)।इससे प्रेरणा ग्रहण कर प्रेमचन्दोत्तर-युग में हिन्दी-उपन्यास, यथार्थ के अनेक आयामों (समाज, इतिहास, अंचल और मनोविज्ञान) के आधार पर विकसित हुआ (नागरजी का 'बूंद और समुद्र' वृन्दावन -लाल वर्मा कृत 'झांसी की रानी' रेणु कृत 'मैला आंचल' और जैनेन्द्र कृत 'त्यागपत्र' इत्यादि ) ।

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि हिन्दी-उपन्यास दो रूपों में विकसित हुआ :---

1) कथानक प्रधान उपन्यास के रूप में ।

2) चरित्र-प्रधान उपन्यास के रूप में ।

कथानक प्रधान उपन्यासों का रूप प्रेमचन्दोत्तर युग से पहले भी था और प्रेमचन्दोत्तर युग के पश्चात आज भी है । किन्तु थोड़े भिन्न रूप में है । आज के हिन्दी-उपन्यास में कथानक का शास्त्रीय-स्वरूप संभव नहीं रह गया है । प्रेमचन्दीय घटनाओं के आदि, मध्य, अन्त का क्रमबद्ध निरूपण का सर्वथा लोप हो गया है । इसके प्रत्युत्तर में हिन्दी उपन्यासकारों का कहना है कि आज का जीवन क्रमबद्ध नहीं रह गया, फिर उसके प्रतिबिम्ब उपन्यास में क्रमबद्ध घटना विकास कैसे संभव हो सकता है । कथानक प्रधान उपन्यासों के रूप में आज विविध प्रयोग हो रहे हैं । वृहत्कथाओं के उपन्यास लिखे जा रहे हैं, तो कुछ ऐसे उपन्यास भी लिखे जा रहे हैं, जिनका कार्यकाल केवल चौबीस घंटे का है । गिरधर गोपाल के 'चांदनी के खण्डहर (1954) में एक दिन-रात के केवल 24 घंटे की कथा कहने का अभिनव प्रयोग किया गया है । सर्वेश्वर दयाल के 'सोया हुआ जल ' की काल-सीमा केवल 6 घंटे हैं और स्थान है - यात्रीशाला । यह केवल 50 छोटे पृष्ठों का लघु-उपन्यास है । इसी तरह धर्मवीर भारती के 'सूरज का सातवां ' घोड़ा ' में एक कथा में अनेक कथाओं का मिश्रण है । शिवप्रसाद मिश्र रुद्र के बहती गंगा ' में सत्रह तरंगे हैं- एक दूसरे से अलग परस्पर स्वतंत्र, परन्तु धारा और तरंग-न्याय से आपस में बंधी हुई भी है । कथानक प्रधान उपन्यास के क्षेत्र में कुछ विचित्र प्रयोग भी देखने को मिलते हैं यथा- पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के उपन्यास ' कथाचक्र ' में जीवित-मृत उपन्यासकारों की रचनाओं के उद्धरणों के आधार पर कथा-चक्र निर्मित किया गया है । इसी तरह एक से अधिक लेखकों की सामूहिक-रचना के रूप में 'बारह खम्भा ', 'ग्यारह सपनों का देश ' और 'एक इंच मुस्कान ' उल्लेखनीय है । कुछ ऐसे प्रयोग भी हुए हैं जिनमें मानवेतर कथा-

आधार प्रस्तुत किये गये हैं, यथा- नागार्जुन के 'बाबा बटेसरनाथ' में वटवृक्ष को कथानायक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। लक्ष्मीकान्त वर्मा कृत 'खाली कुर्सी की आत्मा' में सारी कथा कुर्सी की जबानी प्रस्तुत की गई है। रांगेयराघव कृत 'हुजूर' में एक कुत्ता, जिसे अपने मालिकों के पास रहना पड़ता है, अपनी आत्मकथा के रूप में नौकरशाही और तथाकथित भद्र वर्ग की नैतिकता पर करारी चोट करता दिखाया गया है। ये सब प्रयोग हिन्दी उपन्यास के कथानक-ह्रास के ही सूचक हैं। वास्तव में आज औपन्यासिक शिल्प की केन्द्र 'कथा' न होकर 'चरित्र' हो गया है क्योंकि आज का उपन्यासकार 'मूल्य' देना चाहता है, कथा का रस नहीं। ये मूल्य समस्त साहित्य के केन्द्र मानव के लिए होते हैं और मानवीय समस्याओं के निरीक्षण-परीक्षण तथा व्याख्या-विश्लेषण से ही प्राप्त किए जा सकते हैं, अतएव उसकी दृष्टि चरित्र पर जाती है, कथा पर नहीं।[2] (त्यागपत्र)।

अतएव आज चरित्र प्रधान-उपन्यासों के रूप में ही हिन्दी-उपन्यास का विकास हो रहा है। उपन्यास जगत में यह परिवर्तन मनोवैज्ञानिक-उपन्यासों से आया। प्रेमचन्द युग में चरित्र और घटनाएं साथ-साथ थीं। आज चरित्र ही केन्द्र में प्रतिष्ठित हो गया है। प्रेमचन्द युगीन समाज-केन्द्रित उपन्यास प्रेमचन्दोत्तर युग में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के रूप में व्यक्ति - केन्द्रित हो गया। उपन्यास मानव के बाह्य क्रिया - कलाप आचार-व्यवहार तथा वार्तालाप तक सीमित न रहकर आभ्यान्तरिकता की ओर अभिमुख हो गया। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में ही सर्वप्रथम व्यक्ति के 'अनन्त अव्यक्त' जीवन या 'अज्ञान चेतना के गहरे स्तरों में प्रवेश हुआ और उनका विश्लेषण हुआ। इस प्रकार चरित्र के द्वारा चरित्र की पहचान प्रस्तुत की गई। इस दृष्टि से अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र इत्यादि के उपन्यास उल्लेखनीय हैं। इन्हीं से प्रेरणा ग्रहण कर कुछ ऐसे उपन्यास भी रचे गये जिनमें कथा और चरित्र के नाम पर पात्रों की मनःस्थितियां चित्रित की जाने लगी। नरेश मेहता के 'दो एकान्त' में विवेक और वानीरा की मनःस्थितियां ही सामने आती हैं। इतना ही नहीं चरित्र चित्रण के नाम पर

विचित्र पात्रों की सृष्टि हुई है । केशवचन्द्र शर्मा के 'काठ का उल्लू और कबूतर ' में चरित्र के रूप में काठ के उल्लू और कबूतर को, लक्ष्मी कान्त वर्मा के 'खाली कुर्सी की आत्मा ' में कुर्सी, खटमल, दीमक, लोह-पुरुष, लकड़ी के खिलौनों को वाणी प्रदान की गई है । समाज के उपेक्षित, पददलित तथा पिछड़ी जातियों के व्यक्ति भी चरित्र - सृष्टि का माध्यम बने हैं । रांगेय राघव कृत 'कब तक पुकारूं ' और 'धरती मेरा घर ' में नट और लोह-जाति का चित्रण किया गया है । एक विचित्र प्रयोग-सृष्टि के रूप में राजेन्द्र यादव का 'प्रेत बोलते हैं ' उल्लेखनीय उपन्यास है । इसमें पात्रों को प्रेत के रूप में चित्रित किया गया है । इन विचित्र चरित्र-सृष्टियों के माध्यम से समाज की समस्याओं पर विचार किया गया है । अतएव यह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्दयुगीन उपन्यासों की 'समाज से व्यक्ति की ओर ' की कथा-यात्रा आज 'व्यक्ति से समाज की ओर ' अग्रसर है । वास्तव में हिन्दी-उपन्यास का उद्देश्य है मानव-जीवन को चित्रित करना और यह मानव-जीवन गतिशील है । इस गतिशील मानव-जीवन के यथार्थ को पकड़ने के लिए ही हिन्दी चरित्र प्रधान उपन्यास नयी साज-सज्जा के साथ, नये-नये प्रयोगों के रूप में हमारे सामने आ रहा है । यह नवीनता उपन्यास के शिल्पगत प्रयोग के रूप में ज्यादा उभर रही है । आज का हिन्दी-उपन्यास परम्परागत शिल्प-विधान को छोड़कर नये-नये शिल्प-प्रयोगों की ओर अग्रसर हो रहा है । हिन्दी चरित्र प्रधान उपन्यास की शिल्पगत नवीनता इस हद तक परिवर्तित हो गई है कि उसमें साहित्य की अन्य छोटी-बड़ी विधाओं (रेखाचित्र, यात्रा संस्मरण, जीवनी, डायरी इत्यादि ) का भी समावेश हो रहा है । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि आज हिन्दी-उपन्यास-विधा इतनी उन्नत और समृद्ध हो गई है कि अन्य साहित्यिक - विधाएं भी अपने अस्तित्व रक्षा-हेतु उससे आश्रय मांग रही हैं । इन नये प्रयोगों के रूप में ऐसे कई उपन्यास सामने आये हैं, जो उपन्यास के साथ - साथ रेखाचित्र भी हैं डायरी भी, जीवन चरित्र भी और आत्मसंस्मरण भी । जैसे :---

1. रेखाचित्रात्मक :- निराला कृत 'बिल्लेसुर बकरिहा', शांतिप्रिय-द्विवेदी कृत 'दिगम्बर' इत्यादि ।
2. डायरीपरक :- डा० देवराज कृत 'अजय की डायरी', जैनेन्द्र कृत 'जयवर्द्धन' राजेन्द्र यादव कृत 'शह और मात' ।
3. आत्मकथात्मक :- इलाचन्द्र जोशी कृत 'सन्यासी', उदयशंकर भट्ट कृत 'वह जो मैंने देखा', निर्मल वर्मा कृत 'वे दिन' आदि ।
4. यात्रात्मक :- राहुल सांकृत्यायन कृत 'मधुर स्वप्न' ।
5. इण्टरव्यूपरक :- अमृतलाल नागर कृत 'ये कोठेवालियाँ'।
6. जीवनचरितात्मक:- नागर कृत 'मानस का हंस' राघव कृत 'लखिमा की आँखें', 'लोई का ताना', 'रत्ना की बात' 'मेरी भवबाधा हरो', 'भारती का सपूत', 'देवकी का बेटा', 'यशोधरा जीत गई' ।
7. रिपोर्ताज :- रिपोर्ताज का कुछ प्रभाव नागार्जुन के 'बाबा बटेसर-नाथ' तथा नरेश मेहता कृत 'यह पथ बन्धु था' में दिखलाई पड़ता है ।

इस प्रकार इन नये प्रयोगों के रूप में हिन्दी-उपन्यास नयी-नयी दिशाओं की ओर उन्मुख हो रहा है । ये नवीन प्रयोग हिन्दी-उपन्यास के विकास की ऊँचाइयों के सूचक हैं । यही कारण है कि आज हिन्दी-उपन्यास गद्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय और प्रमुख साहित्यिक - विधा के रूप में मान्य होती जा रही है ।

मेरा विषय चूंकि 'डा० रांगेय राघव के जीवनचरितात्मक उपन्यास' का विवेचन प्रस्तुत करना है, अतएव प्रस्तुत अध्याय में मेरा उद्देश्य मात्र जीवन-चरितात्मक उपन्यास के स्वरूप और संरचना विधान पर विचार प्रस्तुत करना है ।

'जीवनचरितात्मक - उपन्यास' के सम्बन्ध में जो बात सर्वप्रथम हमारा ध्यानाकर्षित करती है, वह यह कि 'जीवनचरितात्मक उपन्यास' साहित्य की

परस्पर दो विरोधी विधाओं 'जीवनी ' और 'उपन्यास ' का मिश्रित रूप है । 'जीवनी' और 'उपन्यास ' दोनों की विरोधी विशेषताओं का सामंजस्य रूप ही जीवनचरितात्मक उपन्यास ' हैं । वास्तव में 'जीवनी ' और 'उपन्यास' का संयोग- एक विस्मय स्थिति उत्पन्न करने वाला शब्द-प्रयोग है । जीवन-चरितात्मक उपन्यास पर विचार करने के लिए हमें 'जीवनी ' और 'उपन्यास ' दोनों की परस्पर विरोधी विशेषताओं पर विचार करना होगा ।

'जीवनी ' शब्द अंग्रेजी के 'बायोग्राफी ' का पर्याय है । सामान्यत: 'जीवनी ' से तात्पर्य किसी व्यक्ति-विशेष के यथा तथ्य जीवन-वृतान्त को प्रस्तुत करना है । वास्तव में 'जीवनी ' किसी व्यक्ति विशेष के सम्पूर्ण-जीवन से संबंधित घटनाओं का वृतान्त है । जीवनी में किसी व्यक्ति-विशेष के सारे जीवन में किए हुए कार्यों का, उसके सर्वांगी अन्तर्बाह्य जीवन का, उसकी बड़ी से बड़ी महानता से लेकर छोटी से छोटी घरेलू बातों तक का, गुणों के साथ-साथ दोषों तक का भी ब्यौरा होता है ।

'जीवनी ' की एक मुख्य विशेषता , जो उसे साहित्य की अन्य विधाओं से अलग करती है, वह यह कि उसकी सृष्टि कल्पना से दूर, ठोस यथार्थ की भूमि पर होती है । उसमें व्यक्ति-विशेष के जीवन से संबंधित तथ्यों का यथा तथ्य चित्रांकन रहता है । जीवनी-लेखक अपनी कल्पना से न तो उन्हें बढ़ा-चढ़ाकर ही प्रस्तुत कर सकता है और न ही उसे विकृत कर सकता है । यदि प्रमाण यह कहते हैं कि महाकवि कालिदास पहले महामूर्ख समझे जाते थे, तत्पश्चात अपनी पत्नी द्वारा प्रताड़ित होने पर ही काव्य सृजन की ओर उन्मुख हुए । अथवा महर्षि वाल्मीकि पहले डाकू थे या झांसी की रानी लक्ष्मीबाई अंग्रेजों से पराजित हुई थी, तो इन तथ्यों को जीवनीकार बदल नहीं सकता । वरन् वह इन प्राप्त तथ्यों का सच्चाई से उद्‌घाटन करेगा । इस प्रकार 'जीवनी' किसी व्यक्ति-विशेष का यथावत् तथ्यात्मक सम्पूर्ण जीवन-वृतान्त है ।

दूसरी ओर, उपन्यास का पक्ष इससे विपरीत है । जीवनी के सत्य और उपन्यास के सत्य में अन्तर है । जीवनी व्यक्ति-विशेष का प्रामाणिक जीवन-

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY LIBRARY
DISS
0,152,3,N23'9
152M2
TH-984

चरित्र है, तो उपन्यास सामान्य व्यक्ति-जीवन की काल्पनिक-कथा । जीवनी का पात्र विशेष-वर्ग से संबंधित होता है जबकि उपन्यास का पात्र यथार्थ-जगत का प्राणी प्रतीत होते हुए भी लेखक की कल्पना की सृष्टि होता है । इतिहास में उसकी कोई वास्तविक-स्थिति नहीं होती । जीवनीकार को व्यक्ति-विशेष से संबंधित सभी तथ्यों, प्रमाणों का संग्रह करना पड़ता है, जबकि उपन्यासकार को किसी प्रकार के प्रमाणों के पचड़े में पड़ने की आवश्यकता नहीं होती । उपन्यास लेखक के नितान्त निजी अनुभवों और कल्पना पर आधारित होता है, जबकि 'जीवनी ' नितान्त सत्यावलंबित होती है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'जीवनी ' और 'उपन्यास ' सर्वथा भिन्न विशेषताओं वाली दो विरोधी विधाएं हैं । इसके बावजूद भी 'जीवनी ' और 'उपन्यास ' का मिलन कराने का दायित्व 'जीवनीपरक-उपन्यासकार उठाता है । यहां यह प्रश्न उठता है कि कैसे लेखक एक साथ ही जीवनी-लेखक और उपन्यास-लेखक- इन दोनों दायित्वों को निभाता है ? वो एक उपन्यासकार की भांति जीवनीकार का दायित्व या एक जीवनीकार की भांति उपन्यासकार के दायित्व का पालन करता है । दूसरे शब्दों में, हमारे सम्मुख किसी जीवन-चरित्र को उपन्यस्त करने की समस्या पैदा होती है । इसके समाधान में यही कहा जा सकता है कि जीवनी मात्र विवरण देती है, उपन्यास उनका चित्रण करता है । जीवनी यथार्थ का विवरण है और जीवनीपरक-उपन्यास कल्पना के माध्यम से उस यथार्थ की पकड़ का चित्रण है ।

जीवनीपरक उपन्यासकार का उद्देश्य उपन्यास के मुख्य पात्र के रूप में किसी एक व्यक्ति-विशेष के सम्पूर्ण जीवन-वृतान्त को प्रस्तुत करना है । इसके लिए उसे अपने निजी अनुभवों के साथ व्यक्ति-विशेष के एक दूसरे ही लोक में प्रवेश करना पड़ता है । जिसके लिए उसे व्यक्ति-विशेष के जीवन से संबंधित प्राप्त प्रमाणों, संस्मरण, पत्र या डायरी, उस पर लिखित कोई अन्य पुस्तक, यदि वह व्यक्ति-विशेष साहित्यकार है तो उसकी साहित्यिक-कृतियों का भी अध्ययन-विश्लेषण करना पड़ता है ।

यहीं यह भी समस्या उठती है कि जीवनीपरक उपन्यास की सर्जना में तथ्यों एवं कल्पना का किस सीमा तक उपयोग किया जाना चाहिए। वास्तव में जीवनी को उपन्यस्त करने की समस्या का हल लेखक की प्रतिभाशक्ति पर निर्भर करता है। लेखक की प्रतिभाशक्ति ही जीवनी और उपन्यास का संगम कराने में सक्षम है। लेखक व्यक्ति-विशेष के जीवन-वृतान्त को, उसके जीवन से संबंधित घटनाओं को अपनी प्रतिभा के बल पर इस प्रकार स्थापित करता चलता है कि उसमें उपन्यास का- सा रस प्रवाहित होने लगता है। इस प्रकार लेखक की प्रतिभा शक्ति ही किसी जीवन-वृतान्त को उपन्यस्त करने में सक्षम है।

जीवनीपरक उपन्यास क्योंकि साहित्य की दो विरोधी विधाओं 'जीवनी' और 'उपन्यास' का मिश्रित रूप है अतएव सामान्य उपन्यास से भिन्न स्थान का अधिकारी है। इस भिन्नता की ओर भी दृष्टि डालना अनुचित न होगा।

जीवनीपरक उपन्यास और सामान्य-उपन्यास में मुख्य भिन्नता जो ध्यान आकर्षित करती है वह यह कि जीवनीपरक उपन्यास में व्यक्ति-विशेष को विशेष महत्व मिलता है जबकि सामान्य उपन्यास का व्यक्ति, विशेष न होकर उपन्यासकार की कल्पना की सृष्टि होता है। यह ठीक है कि 'गोदान' के होरी, धनिया, समाज के एक विशिष्ट वर्ग का प्रतिनिधित्व करने के रूप में, वास्तविक प्रतीत होते हैं किन्तु उनकी कोई ऐतिहासिक स्थिति नहीं मिलती। ये मात्र प्रेमचन्द की कल्पना की उपज हैं। यूं तो सामान्य उपन्यास और जीवनीपरक उपन्यास दोनों में ही मानव-जीवन का चित्रण करना मुख्य ध्येय रहता है किन्तु एक का मानव-जीवन वास्तविक प्रतीत होते हुए भी कल्पित होता है, दूसरे का नितान्त वास्तविक। इसके साथ ही एक मुख्य भिन्नता जो दृष्टिगत होती है वह यह कि सामान्य उपन्यासकार की लेखनी स्वतंत्र होती है, कल्पना की जितनी ऊंची, उन्मुक्त उड़ान भरना चाहे, वह भर सकता है। किन्तु जीवनी-परक उपन्यास लेखक के हाथ बंधे हुए होते हैं। वह कल्पना का प्रयोग मात्र घटनाओं को धारावाहिक रूप प्रदान करने हेतु ही कर सकता है।

इस प्रकार जीवनीपरक उपन्यास जीवनीप्रधान होने के कारण सामान्य उपन्यास से अलग स्थान का अधिकारी है । जीवनीपरक उपन्यास की सर्जना हेतु उसे एक साथ ही जीवनी-लेखक और उपन्यास-लेखक के दायित्वों का निर्वाह करना पड़ता है ।

यहीं ऐतिहासिक-उपन्यासों के प्रसंग में यह शंका उठती है कि ऐतिहासिक उपन्यास के पात्र भी इतिहास-प्रसिद्ध होते हैं, तो जीवनीपरक उपन्यासों को ऐतिहासिक उपन्यासों की कोटि में शामिल क्यों नहीं कर लिया जाता ? इस शंका के समाधान में यह कह सकते हैं कि जीवनीपरक उपन्यास में प्रधानता एक व्यक्ति-विशेष को मिलती है । उसके सम्पूर्ण जीवन-वृतान्त को प्रस्तुत करना ही जीवनीपरक उपन्यास का उद्देश्य होता है । लेकिन ऐतिहासिक उपन्यास में बल ऐतिहासिक घटनाओं और वातावरण पर होता है, न कि ऐतिहासिक पात्र-विशेष पर । इनमें एक ही कथा प्रमुख नहीं होती, उसके साथ-साथ अनेक छोटी-बड़ी गौण कथाएं भी होती हैं । प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त और भी पात्र होते हैं, जो कथानक को गति प्रदान करते हैं । इस अन्तर को न समझ सकने के कारण ही शायद कुछ विद्वान 'बाणभट्ट की आत्मकथा' तथा 'झांसी की रानी' को भी जीवनीपरक-उपन्यास मानते हैं । किन्तु ये ऐतिहासिक उपन्यास हैं क्योंकि इनमें न तो मुख्य पात्र का सम्पूर्ण जीवन-वृतान्त ही प्रस्तुत किया गया है और साथ ही जीवनीजन्य प्रामाणिकता की रक्षा भी इनमें पूर्णत: नहीं हो पाई है ।

इस प्रकार इस अध्ययन से स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति-विशेष की जीवनी में प्रतिभाशक्ति की गरिमा, कल्पनाशक्ति की यथायोग्य कमनीयता, साहित्य का सौन्दर्य एवं कवित्व-शक्ति का संयोग कर उसे उपन्यासत्व रूप में जब प्रस्तुत किया जाता है तो एक विशेष विधा का जन्म होता है । वह है--जीवनीपरक उपन्यास ।

यूं तो प्रत्येक उपन्यास में किसी न किसी रूप में मानव-जीवन का ही चित्रण रहता है । इस आधार पर तो सभी उपन्यास जीवनीपरक कहे जा

सकते हैं । किन्तु ऐसा नहीं है । क्योंकि जीवनीपरक उपन्यास, साहित्य की दो विरोधी विधाओं- जीवनी और उपन्यास का मिश्रित रूप है । इसमें उपन्यास के साथ-साथ जीवनी विषयक आवश्यक शर्तें भी जुड़ी हैं, जो इसे सामान्य उपन्यास से भिन्न, एक विशिष्ट, नवीन और मौलिक उपन्यासधारा का रूप प्रदान करती है । किन्तु यह उपन्यासधारा ज्यादा विकसित नहीं हुई । हिन्दी-उपन्यास पर यदि दृष्टि डालें तो पता चलेगा कि हिन्दी में जीवनीपरक उपन्यासकार केवल दो ही हुए हैं --- डा० रांगेय राघव और अमृतलाल नागर । अंग्रेजी साहित्य इस दृष्टि से काफी समृद्ध है । अंग्रेजी जीवनीपरक उपन्यासों में बिकाफर- राबर्ट्स ( Bechhafar Roberts ) का 'दिस साइड आइडियोलेट्री '( This Sidedeolatery ) ऐन्ड्रे मौरिस (Andre Mauris) का एरियल ( Ariel ) फिलिप गीडेला का पामर्स्टन ( Palmerston) इरविंग स्टोन ( Irving Ston ) का लस्ट फार लाइफ ' ( Lust far Life ) और 'ऐगानी एण्ड ऐक्सटेसी (Agony and Ecstacy) उल्लेखनीय जीवनीपरक उपन्यासधारा के सूचक उपन्यास हैं । 'दिस साइड आइडियोलेट्री में प्रसिद्ध उपन्यासकार 'डीकेन्स ' की जीवनी प्रस्तुत की गई है । 'एरियल ' में कवि शैली के जीवन-चरित्र को साकार करने का भरसक प्रयत्न किया गया है । स्टोन ने विनसेन्ट वैन गोघ माइकेल एंजिलो, जान नोबेल इत्यादि की जीवनियों को आधार बनाकर जीवनचरितात्मक उपन्यासों की सर्जना की है । ~~बस~~

मराठी साहित्य में भी इस परम्परा के कुछ अंश विद्यमान हैं । मराठी में भीमराव कुलकर्णी ने मराठी के प्रसिद्ध उपन्यासकार हरिनारायण आप्टे की जीवनी को 'हरिनारायण ' में प्रस्तुत किया है । इसी प्रकार 'स्वामी ' , 'झंप' 'झुंझ ', 'मंत्रावेगळा ' ,'यज्ञ ', 'मृत्युंजय', 'आनन्दीगोपाल ', 'ओंकार ' आदि मराठी भाषा के अन्य जीवनीपरक उपन्यास हैं ।

हिन्दी में जीवनीपरक उपन्यासों की परम्परा ज्यादा विकसित नहीं हो पाई है । अमृतलाल नागर का 'मानस का हंस ' हिन्दी के जीवनीपरक उपन्यासों की परम्परा का महान् और चिरस्थायी स्तम्भ है । इसमें लेखक ने

महाकवि तुलसी के जीवन-वृतान्त को उपन्यस्त किया है । नागर जी के पश्चात जो दूसरा नाम सामने आता है वह है - डा० राघव । डा० राघव ने जीवनीपरक उपन्यासों के रूप में सात अनमोल-रत्न प्रस्तुत किये हैं । उन्होंने विद्यापति, कबीर, तुलसी, बिहारी, भारतेन्दु, महात्मा बुद्ध, श्रीकृष्ण के जीवन-चरित्रों के आधार पर क्रमश: 'लखिमा की आखें', 'लोहे का ताना', 'रत्ना की बात', 'मेरी भवबाधा हरो', 'भारती का सपूत', 'देवकी का बेटा' और 'यशोधरा जीत गई' के रूप में हिन्दी जीवनीपरक उपन्यास परम्परा का श्रीगणेश किया । नागर और राघव के अतिरिक्त अभी कोई तीसरा नाम इस परम्परा में नहीं जुड़ा है । कुछ विद्वानों ने अज्ञेय के 'शेखर: एक जीवनी' और हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को भी जीवनीपरक उपन्यासों की कोटि का माना है । किन्तु इन्हें जीवनीपरक उपन्यास मानना, जीवनीपरक उपन्यास का भ्रम पैदा करना है । क्योंकि 'शेखर : एक जीवनी' का नायक शेखर कोई विशेष व्यक्ति नहीं है । इसमें जीवनी का-सा भ्रम पैदा किया गया है । वास्तव में यह सामान्य उपन्यास की कोटि का ही उपन्यास है । इसी प्रकार 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में भी जीवनी का भ्रम पैदा करने की कोशिश की गई है । लेकिन लेखक को इसमें सफलता नहीं मिल पाई है । यह मात्र ऐतिहासिक-उपन्यास ही बनकर रह गया है ।

संरचना - विधान:- कथा-साहित्य का अभिन्न अंग है उपन्यास और इसका एक विशिष्ट, नवीन और मौलिक रूप प्रकार है - जीवनीपरक उपन्यास । उपन्यास का ही एक प्रकार होने से जीवनीपरक उपन्यास का भी संरचनाविधान वही है जो कि सामान्य उपन्यास का होता है । लेकिन समान संरचना-विधान होने पर भी जीवनीपरक-उपन्यास में इसका रूप विशिष्ट होता है । क्योंकि इसमें उपन्यास-विषयक संरचना विधान के साथ-साथ जीवनी-विषयक संरचना-विधान की अनिवार्यता भी जुड़ी हुई है । अतएव इसकी शिल्पगत विशेषताएं यद्यपि उपन्यास जैसी हैं किन्तु उनके साथ जीवनी विषयक आवश्यक शर्तें भी जुड़ी हुई हैं । यही कारण है कि जीवनीपरक उपन्यास शिल्प के क्षेत्र में भी नवीनता के द्योतक हैं ।

जहां तक कथ्य का सवाल है जीवनीपरक उपन्यास किसी व्यक्ति-विशेष के सम्पूर्ण जीवन-वृतान्त पर आधारित होता है । व्यक्ति-विशेष के जीवन से संबंधित घटना-प्रसंगों के आधार पर कथा का ढांचा निर्मित किया जाता है । सामान्य-उपन्यासों की भांति अपनी ओर से घटना-निर्माण करने की छूट लेखक को नहीं होती । जहां तक कथागत-प्रवाह का प्रश्न है, इस दृष्टि से भी जीवनीपरक उपन्यास और सामान्य उपन्यास में अन्तर है । सामान्य उपन्यासों में कथाधारा जहां प्रवाहित हो जाये वहीं उपन्यासकार की लेखनी अग्रसर होती है । किन्तु जीवनीपरक उपन्यासकार को यह स्वतंत्रता हासिल नहीं है । उसकी लेखनी एक सीमित घेराबन्दी के भीतर ही चक्कर काट सकती है । उस घेराबन्दी की सीमा का उल्लंघन वह नहीं कर सकती । क्योंकि जीवनीपरक उपन्यास का उद्देश्य व्यक्ति-विशेष का जन्म से मृत्यु तक का जीवन-वृतान्त प्रस्तुत करना होता है । अतएव एक निश्चित बिन्दु से कथा की शुरूआत होती है और सीधे एक निश्चित बिन्दु पर जाकर समाप्त हो जाती है । सामान्य उपन्यास की कथा-धारा अदम्य-उच्छल वेग से प्रवाहित होने वाले झरने की भांति है, जो अपनी मनमानी करता हुआ कहीं भी प्रवाहित हो सकता है । किन्तु जीवनीपरक उपन्यास की कथाधारा एक निश्चित 'पाइप-लाइन' में प्रवाहित होने वाली जलधारा के समान है, जिसे एक निश्चित क्षेत्र में ही प्रवाहित होने का अधिकार है । इधर-उधर ताक-झांक की उसे छूट नहीं है । कथ्य का उद्देश्य मुख्य-पात्र के व्यक्तित्व-विधायक तत्वों को ही उद्घाटित करना होता है, अतएव अनावश्यक घटनाओं के साथ-साथ पात्रों की भी अनधिकार चेष्टा वर्जित है । अन्य पात्र, पात्र-विशेष के व्यक्तित्व को विकसित करने के माध्यम के रूप में प्रयोग में लाये जाते हैं । नागर जी के 'मानस का हंस' का मुख्य विषय महाकवि तुलसी के जीवन-चरित्र को उद्घाटित करना है । तुलसी के अतिरिक्त अन्य अनेक पात्रों की भीड़ है किन्तु वह निष्प्रयोजन नहीं है । इन्हीं पात्रों के सहयोग से तुलसी के चरित्र को विकास प्रदान किया गया है । निष्प्रयोजन पात्र-सृजन के साथ-साथ निष्प्रयोजन घटना-प्रसंगों का सृजन भी वर्जित है । लेखक का उद्देश्य पात्र व्यक्ति-विशेष के जीवन से

संबंधित प्राप्त तथ्यों के आधार पर घटना-विधान को स्थापित करना होता है । इस दृष्टि से 'मानस का हंस' में तुलसी के जीवन से संबंधित घटना प्रसंगों को ही वाणी दी गई है । सामान्य-उपन्यासों जैसा मनमाना घटना-व्यापार यहां देखने को नहीं मिलता । भाषा-शैली की दृष्टि से यह एक बेमिसाल नमूना है । नागर जी की अपनी ही एक भाषा-शैली के प्रयोग के रूप में सामने आया है ।

जीवनीपरक उपन्यास व्यक्ति-विशेष की जीवन-गाथा ही नहीं, वरन् युगीन दस्तावेज भी प्रस्तुत करता है । उसका उद्देश्य व्यक्ति-विशेष के व्यक्तित्व विधायक तत्वों का उसके युगीन-सन्दर्भों में परीक्षण प्रस्तुत करना है । अतएव जीवनीपरक उपन्यासकार के लिए व्यक्ति-विशेष के जीवन की पहचान के साथ-साथ उसके युग की भी पहचान आवश्यक है । इस दृष्टि से 'मानस का हंस' एक सफल जीवनीपरक उपन्यास है । लेखक ने तुलसी को उसके युगीन-सन्दर्भों में रखकर प्रस्तुत किया है । तुलसीयुगीन सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों का इतना सजीव चित्रण अंकित किया है कि हमारे सम्मुख तुलसी की मूर्ति के साथ-साथ उसके युग का भी साकार चित्र-सा खड़ा हो जाता है । हमारे मनोमस्तिष्क पर उसकी अमिट छाप अंकित हो जाती है । इतना ही नहीं, लेखक ने तुलसी युगीन मान्यताओं के चित्रण के माध्यम से वर्तमान युगीन मान्यताओं एवं मूल्य-विघटन पर भी प्रहार किया है । तुलसी के जीवन का आर्थिक-अभाव, अपमानपूर्ण स्थितियां, छोटी-जाति की पार्वती द्वारा पालन-पोषण, धर्म और समाज की विकृत मान्यताएं-- ऐसे युगीन सत्य हैं, जो आज भी व्याप्त हैं । लेखक ने इन पर निस्संकोच प्रहार किया है । अतएव यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि लेखक को तुलसी के साथ-साथ उसके युग की भी पूरी पकड़, पूरी पहचान है ।

चूंकि जीवनीपरक उपन्यास पहले जीवनी है, बाद में उपन्यास, जीवनी-परक उपन्यासकार पहले जीवनीकार हैं, बाद में उपन्यास-लेखक । अतएव जीवनीपरक उपन्यास में जीवनीजन्य प्रामाणिकता का होना अनिवार्य है । यही वह तत्व

है जिसकी पुष्टि इसे सामान्य-उपन्यास से भिन्न-कोटि का दर्जा देती है । सामान्य उपन्यास-लेखक की स्वतंत्र-लेखनी कल्पना की जितनी ऊंची उड़ान भरना चाहे, भर सकती है किन्तु जीवनीपरक उपन्यास - लेखक के हाथ बंधे होते हैं । वह व्यक्ति-विशेष के जीवन से संबंधित प्राप्त-तथ्यों के आधार पर घटनाओं का ताना-बाना बुनता है । अपनी कल्पनाशक्ति से वह उन तथ्यों को रोचक रूप प्रदान कर सकता है, किन्तु उन तथ्यों में मनमाना परिवर्तन उसके लिए वर्जित है । यह सही है कि उपन्यासकार अपने रचना-कौशल से व्यक्ति-विशेष के जीवन-चरित्र को उपन्यस्त करता है , किन्तु उसे इस बात का हमेशा ध्यान रखना पड़ता है कि उसे उपन्यस्त करने के फेर में उसकी प्रामाणिकता कहीं नष्ट न हो जाये ।

वास्तव में ये ही मुख्य तत्व हैं जिनके आधार पर एक सफल जीवनी-परक उपन्यास की रचना संभव हो सकती है । किन्तु जीवनीपरक-उपन्यास का संरचना विधान मात्र कथ्य, पात्र और भाषा-शिल्प की दृष्टि से ही नवीन प्रयोग नहीं है । वह इससे अधिक भी कुछ है । ये सब तो ऊपरी आवरण मात्र हैं । इसके अतिरिक्त भी कृति में ऐसा कुछ होना चाहिए, जो हमारे मनोमस्तिष्क पर अपनी अमिट छाप अंकित कर दे ।

जीवनीपरक उपन्यास व्यक्ति-विशेष के जीवन-वृतान्त पर आधारित होता है । यह व्यक्ति-विशेष किसी भी क्षेत्र यथा-इतिहास , साहित्य, समाज एवं धर्म इत्यादि के क्षेत्र का हो सकता है । अतएव व्यक्ति विशेष के क्षेत्र के आधार पर हम जीवनीपरक उपन्यास को चार भागों में विभाजित कर सकते हैं :-

(1) साहित्यकारों की जीवनी पर आधारित उपन्यास : इसमें साहित्यकारों विशेषत: कवि, उपन्यासकार, कहानीकार, नाटककार, आलोचक इत्यादि के जीवन-चरित्रों को उपन्यस्त करना मुख्य ध्येय होता है । नागर जी का 'मानस का हंस' राहुल जी के 'लखिमा की आखें', 'लोहे का ताना', 'रत्ना की बात', 'मेरी मनबाधा हरो' और 'भारती का सपूत' इसी कोटि के

जीवनीपरक उपन्यास हैं । इसके अतिरिक्त हिन्दी में इस कोटि के उपन्यासों का अभाव है ।

(2) ऐतिहासिक वीर-पुरुषों की जीवनी पर आधारित : इसमें इतिहास-प्रसिद्ध वीर-योद्धाओं जिन्होंने देश के लिए अपना जीवन बलिदान किया, उनकी जीवनी को आधार बनाया जाता है । हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यास तो बहुत मिलते हैं किन्तु जीवनीपरक उपन्यास नहीं हैं ।

(3) राजनीतिज्ञों की जीवनी पर आधारित उपन्यास : इसमें विशिष्ट राजनेताओं की जीवनियों के आधार पर उपन्यास रचे जाते हैं । इस दृष्टि से भी हिन्दी जीवनीपरक उपन्यास का स्थान रिक्त है ।

(4) धर्म और समाज-सुधारकों की जीवनी पर आधारित उपन्यास : जिन महापुरुषों ने धर्म और समाज-सुधार के क्षेत्र में महत्ता हासिल की हो, धर्म-प्रवर्तन-परिवर्तन में योगदान दिया हो अथवा सामाजिक-समस्याओं, कुप्रथाओं के निवारण में महत्वपूर्ण कार्य किये हों, उनके जीवन-चरित्रों के आधार पर ऐसे उपन्यास रचे जाते हैं । डा० राघव के 'यशोधरा जीत गई' और 'देवकी का बेटा' इसी कोटि के उपन्यास हैं ।

इस दृष्टि से हिन्दी जीवनीपरक उपन्यास विधा, अभी पूर्णत: विकसित नहीं हो पाई है । किन्तु यह तो निस्संकोच स्वीकारना होगा कि यह जीवनीपरक उपन्यास विधा एक 'नवीन-प्रयोग' के रूप में सामने आई है और इसके माध्यम से हिन्दी-उपन्यास को एक नयी दिशा मिली है । इसे हिन्दी-उपन्यास की एक 'उपलब्धि' के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है ।

--ooooo--

पाद टिप्पणियां :

1. कुछ विचार -प्रेमचन्द, पृष्ठ-38 ।
2. त्यागपत्र - जैनेन्द्र कुमार, भूमिका ।

# तीसरा अध्याय

## डा० रांगेय राघव के जीवनीपरक उपन्यास

## तीसरा अध्याय

## डा० रांगेय राघव के जीवनीपरक उपन्यास

हिन्दी के जीवनीपरक उपन्यास के साथ डा० रांगेय राघव का नाम गहराई से जुड़ा है । डा० राघव ने महान् साहित्यकारों, युगनायकों एवं धर्म प्रवर्त्तकों के जीवन-चरित्रों के आधार पर सात जीवनीपरक उपन्यास रचे हैं जिन्हें जीवनीपरक उपन्यास के भेदों के आधार पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :---

(क) महान साहित्यकारों की जीवनी पर आधारित उपन्यास :-
लखिमा की आखें, लोई का ताना, रत्ना की बात, मेरी भवबाधा हरो, भारती का सपूत ।

(ख) धर्म और समाज-सुधारकों की जीवनी पर आधारित उपन्यास :-
देवकी का बेटा, यशोधरा जीत गई ।

कुछ विद्वान डा० राघव के 'आंधी की नींवे', 'धूनी का धुंआ', और 'जब आवेगी काल घटा' को भी जीवनीपरक उपन्यास मानते हैं । किन्तु हमारे मत में ये जीवनीपरक उपन्यास न होकर, सामान्य ऐतिहासिक उपन्यास हैं । यह सही है कि 'आंधी की नींवे' में महाराणा प्रताप और उनकी पत्नी लक्ष्मी का जीवन-चरित्र वर्णित है, किन्तु उनके जीवन की कुछ ही घटनाओं को स्थान दिया गया है, न कि सम्पूर्ण जीवन-वृतान्त को । मुख्य कथानक महाराणा प्रताप और अकबर के संघर्ष को लेकर चला है । महाराणा प्रताप ने एक जननायक की हैसियत से अकबर से युद्ध किया- इसी प्रसंग को लेकर कथानक का ढांचा निर्मित हुआ है । इसी के माध्यम से महारानी लक्ष्मी के जीवन के एक पक्ष त्याग और संघर्षमय रूप को उभारा गया है, न कि सम्पूर्ण जीवन-वृतान्त को । इसी प्रकार

'धूनी का धुंआ' और 'जब आवेगी काल घटा' में क्रमश: गोरखनाथ और चर्पटनाथ के माध्यम से नाथ-सम्प्रदाय की ही रूपरेखा स्पष्ट हुई है, न कि गोरखनाथ और चर्पटनाथ के जीवन-चरित्र । अतएव ये तीनों उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यास हैं ।

(क) साहित्यकारों की जीवनी पर आधारित उपन्यास :

साहित्यकारों की जीवनी पर आधारित उपन्यासों में किसी भी साहित्य के महान् साहित्यकारों के जीवन-वृतान्त को उपन्यस्त किया जाता है । उपन्यास के मुख्य पात्र के रूप में किसी विशेष साहित्यकार का जीवन वर्णित करना ही ऐसे उपन्यासों का उद्देश्य होता है । जीवनीपरक उपन्यासकार जब किसी साहित्यकार को अपने उपन्यास का विषय बनाता है तब उसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह उस साहित्यकार के जीवन से संबंधित सभी सामग्री, उसके जीवन पर लिखित कोई अन्य जीवनी, लेख, संस्मरण पत्र, डायरी और उस साहित्यकार की साहित्यिक कृतियों का अध्ययन करे, तभी वह एक प्रामाणिक जीवनीपरक उपन्यास प्रस्तुत करने में सफल हो सकेगा । हिन्दी में ऐसे जीवनी परक उपन्यासों की कोई सुदृढ़ परम्परा उपलब्ध नहीं है । अनेक साहित्यकारों के जीवन-परिचय तो 'जीवनी' विधा के रूप में उपलब्ध हैं किन्तु उपन्यास-रूप में किसी भी साहित्यकार के जीवन-चरित्र को प्रस्तुत नहीं किया गया है । अकेले डा० राघव ही सर्वप्रथम ऐसे उपन्यास-लेखक हैं जिन्होंने हिन्दी साहित्येतिहास के प्रमुख पांच साहित्यकारों के जीवन को उपन्यस्त करने का प्रयास किया है । अमृतलाल नागर जी का तुलसी की जीवनी पर आधारित 'मानस का हंस' इस परम्परा की महत्वपूर्ण कड़ी है । डा० राघव ने 'लखिमा की आखें' में हिन्दी साहित्येतिहास के आदिकवि विद्यापति, 'लोई का ताना' में भक्तिकालीन निर्गुण भक्तिधारा के संत कवि कबीरदास 'रत्ना की बात' में सगुण भक्तिधारा के प्रवर्तक तुलसीदास 'मेरी भवबाधा हरो' में रीतिकालीन शृंगारी कवि बिहारी और 'भारती का सपूत' में आधुनिकाल के प्रवर्तनकर्ता भारतेन्दु के जीवन-चरित्र को उपन्यस्त किया है ।

## (1) लखिमा की आखें

'लखिमा की आखें' हिन्दी साहित्येतिहास के आदिकाल के प्रमुख महाकवि विद्यापति के काव्यात्मक-जीवन पर आधारित है। साहित्यकारों के सम्मुख विद्यापति बहुत विवाद का विषय रहे हैं। विद्यापति की जन्मतिथि जन्मस्थान, भाषा तथा विचारधारा इत्यादि के प्रामाणिक तथ्यों का अभाव है। इसके बावजूद भी डा० राघव ने विद्यापति के जीवन-वृतान्त को उपन्यस्त करने का सराहनीय प्रयास किया है।

विद्यापति के जीवन-वृतान्त को उपन्यस्त करने के लिए लेखक ने विद्यापति के जीवन से संबंधित घटना-प्रसंगों को कथा के रूप में प्रस्तुत किया है। विद्यापति के जन्म से लेकर मृत्यु-संबंधी घटना-प्रसंगों को तीन भागों में विभाजित किया गया है, जो एक ब्राह्मण-यात्री की स्मृतियों पर आधारित हैं। इन अलग अलग अर्थगर्भित शीर्षकों से अभिहित अध्यायों में विद्यापति के जीवन के अनेक घटना-प्रसंगों को समेटने का सरसक प्रयत्न किया गया है। यदि इन अध्यायों का क्रमश: विवेचन किया जाए तो पता चलेगा कि पहले 'गीत का चुंबक' में हिन्दू-कोरी संघर्ष के माध्यम से लेखक ने कथा के सूत्रधार ब्राह्मण-यात्री की स्थिति स्पष्ट की है -'शूद्र को ब्राह्मण मारता है, बौद्ध अपना राज्य चाहता है। वह तुर्क को ब्राह्मण के विरुद्ध बुलाता है। और ब्राह्मण स्वदेश के इन शत्रुओं से भी लड़ता है और विदेशी लुटेरों से भी। और इस सबका परिणाम क्या होता है सब पिसते हैं, तुर्क जीतते हैं।'[1] इसके पश्चात कथा एक सुन्दर मोड़ लेती है। यात्री इन अत्याचारों से दु:खी होकर आगे बढ़ता है तभी उसके कानों में विद्यापति के गीतों का स्वर सुनाई पड़ता है। वे गीत चुंबक की भांति उसे अपनी ओर खींचते हैं। इस प्रकार विद्यापति की जीवन-कथा की शुरुआत होती है। यहीं से विद्यापति के जीवन से संबंधित तथ्य उजागर होने लगते हैं :—

'यह विद्यापति कौन है ?
है नहीं, वत्स था कहो।

कौन था ?

लखिमा का उपास्य । × × ×

इसी अभिनव जयदेव विद्यापति की कविताएं गाते हुए गौरांग महाप्रभु आनन्द से विह्वल होकर मूर्च्छित तक हो जाते थे ।[2]

इस अध्याय में जो मुख्य विशेषता ध्यान आकर्षित करती है, वह है लेखक का कथा-प्रस्तुतीकरण । आरंभ के कुछ पृष्ठ पढ़ते हुए ऐसा नहीं लगता कि लेखक विद्यापति का जीवन रूपायित करने जा रहा है । तुर्कों के अत्याचार के विस्तृत वर्णन के पश्चात यात्री का दु:खी मन से यात्रा में अग्रसर होना और उसके कानों में गीत का स्वर, विद्यापति के गीतों की चुंबकीय शक्ति से आकर्षित होना- सुन्दर और लेखक की अप्रतिम प्रतिभा का परिचायक है । दूसरे अध्याय 'चुंबक की यात्रा' में विद्यापति के जीवन से संबंधित अनेक दंत-कथाओं को प्रस्तुत किया है । साथ ही विद्यापति की मृत्यु का भी चित्रण किया है । इस अध्याय में जो मुख्य बात सामने आती है वह है विद्यापति के प्रपौत्र के माध्यम से विद्यापति के जीवन के तथ्यों को उद्घाटित करना । लेखक ने एक ताम्रपत्र भी प्रस्तुत किया है । लेखक ने विद्यापति के प्रपौत्र की कल्पना कर कथा में रोचकता तो पैदा की ही है, साथ ही इससे जीवन्तता का भी संचार हो गया है । तीसरे अध्याय 'यात्रा का गीत' में विद्यापति के आश्रयदाता शिवसिंह का वर्णन मिलता है । शिवसिंह और लखिमा के आश्रय में रहते हुए विद्यापति ने अनेक श्रृंगारिक गीतों की रचना की, जिन्हें इस भाग में प्रस्तुत किया गया है । लखिमा के विद्यापति से प्रेम-वर्णन के पश्चात कथा जहां से शुरू हुई थी वहीं पहुंच जाती है । तुर्कों के अत्याचार से लेखक ने उपन्यास की भूमिका बांधी थी, उन्हीं से उपन्यास की समाप्ति भी की है । अंतिम अध्याय 'उपसंहार' में यात्री ने अपनी यात्रा की समाप्ति का उल्लेख किया है । 'गीत का चुंबक' से यात्री की यात्रा शुरू होती है, जो 'उपसंहार' में आकर समाप्त हो जाती है । यात्रा की ओर अग्रसर यात्री के कानों में विद्यापति के गीतों की चुंबकीय शक्ति से प्रभावित होने

और तत्पश्चात विद्यापति का जीवन-वृतान्त जानने की और उत्सुक होने के माध्यम से विद्यापति का सम्पूर्ण जीवन-वृतान्त प्रस्तुत किया है । वास्तव में कृति के कथानक को ब्राह्मण-यात्री की स्मृतियों पर आधारित कर लेखक ने अभिनव और जीवनीपरक उपन्यास के उपयुक्त शिल्प का सृजन किया है । इन अध्यायों का क्रमिक विश्लेषण करते हुए जो मुख्य बात खटकती है वह यह है कि विद्यापति के जीवन का क्रमिक वर्णन नहीं हो पाया है, जो जीवनी की दृष्टि से दोष है । जीवनी में व्यक्ति-विशेष का जन्म से मृत्यु तक का वर्णन क्रमिक रूप से, आयु-वृद्धि के साथ-साथ होता है । किन्तु यह जीवनी के साथ-साथ उपन्यास भी है और इसे ब्राह्मण-यात्री की स्मृतियों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है । यात्रा के पथ पर अग्रसर ब्राह्मण ने जिस प्रकार जनश्रुतियों के माध्यम से विद्यापति के जीवन से संबंधित घटनाओं को समेटा, ठीक उसी प्रकार कथानक का ढांचा भी निर्मित हुआ है ।

यह तो स्पष्ट ही है कि कृति का विषय विद्यापति की जीवन-गाथा को व्यापित करना है किन्तु यह विद्यापति के साथ-साथ उसके युग-संघर्ष की भी कथा है । विद्यापति के साथ-साथ उसके युग, उसके समाज को भी वाणी प्रदान की गई है । लेखक के प्रयास की सफलता यह है कि उन्होंने विद्यापति के जीवन-प्रसंगों की रेखाओं में अपनी सूझ-बूझ से ऐसा रंग भर दिया है कि इसमें विद्यापति के साथ-साथ उसके युग का भी चित्र-सा खड़ा हो जाता है । कृति में विद्यापति के साथ-साथ दिल्ली के सुल्तान महमूद से लेकर सम्राट अकबर के समय तक की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियां भी उजागर हो गई हैं । विद्यापति के समय का समाज अपने आंतरिक विरोधों के कारण टूट रहा था । वर्ण-भेद, जाति-भेद, धर्म-भेद समाज को अपने जंजाल में जकड़े हुए थे । जहां ब्राह्मण-वर्ग को देवता-तुल्य समझा जाता था वहां दूसरी ओर चमारों की दशा अत्यंत शोचनीय थी :----

'चमारों के पास कुआं नहीं है, क्योंकि उन्हें अधिकार नहीं, वे उसी हौज़ में से पानी ले जाते हैं जिसमें से बैलों को पानी पिलाया जाता है ।'[3]

जाति-भेद के साथ-साथ अमीर-गरीब दो वर्गों में समाज बंटा हुआ था । गरीब जनता पर अनेक अत्याचार होते थे :---

"ग्राम-ग्राम में किसान मिलते, जिन्हें तुर्कों के जजिया (कर) ने कुचल रखा था । जजिया इस्लाम की आड़ में विदेशी शासकों द्वारा भारतीय मेहनतकश को लूटने का साधन था ।"[4]

हिन्दू-मुसलमानों में भेदभाव था । मुसलमानों के अत्याचारों के कारण अनेक छोटी जातियां मुसलमान हो रही थीं, इसके पीछे एक बड़ा कारण अपनी सामाजिक-प्रतिष्ठा बढ़ाना भी था । धार्मिक-भेदभाव की दृष्टि से भी एक दूसरे के धर्म पर कीचड़ उछाला जाता था । ऐसे समय विद्यापति ने कृष्ण, राधा, शिव, गंगा आदि की समभाव से पूजाकर अपने उदार मतों का प्रतिपादन किया और भारतीय संस्कृति को जर्जर होने से बचाया । बाल-विवाह के उन्मूलन का प्रयास भी विद्यापति ने किया । राजनीतिक परिस्थिति के चित्रण हेतु कृति का आरंभ और अंत का भाग उल्लेखनीय है । तुर्कों एवं मुगलों के अमानवीय कृत्यों से इस कृति का आरंभ और अंत हुआ है । तुर्कों के पश्चात मुगलों के समय में भी अशांति का साम्राज्य कायम रहा । राजनीतिक विप्लव का पड़ाव केवल राजा शिवसिंह के समय में हुआ, किन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात यह इससे भी ज्यादा बढ़ गया । डा० राघव ने प्रस्तुत कृति के माध्यम से दो सौ वर्षों की राजनीतिक अव्यवस्था को व्यक्त किया है । इस प्रकार विद्यापति के साथ-साथ उसके युग की भी जीवन-गाथा को उपन्यस्त किया है, जिसकी अमिट छाप हमारे मनोमस्तिष्क से हटाये नहीं हटती ।//वास्तव में इस सबके पीछे कृति का शिल्प ही है जो इतनी अमिट छाप छोड़ने में सक्षम हुआ है । सर्वप्रथम ब्राह्मण-यात्री की कल्पना से कृति की प्रभावव्यंजकता बढ़ गई है । उसी की स्मृतियों के आधार पर प्रस्तुत कृति का कलेवर आधारित है । दूसरे, अध्यायों के शीर्षक विद्यापति के गीतों की चुंबकीय शक्ति को दर्शाने हेतु नामांकित किये गये हैं, जिससे अनायास ही पाठक भी उस शक्ति के प्रभाव से बच नहीं पाया है । जहां तक भाषा का प्रश्न है, उस दृष्टि से भी यह एक सफल जीवनीपरक उपन्यास बन पड़ा है । जिस भाषा का उपन्यास में प्रयोग किया गया है, वह सर्वथा विषयानुरूप, सरल एवं सक्षम तो है ही, उसमें समय, स्थिति , पात्र, विचार और प्रसंग आदि की अनुकूलता का भी

पूर्णतया ध्यान रखा गया है । आवश्यकतानुसार उसमें उर्दू, तत्सम और स्थानीय शब्दों का प्रयोग किया है । तुर्कों की बातचीत उर्दू की रंगत लिये हुए हैं :---

'क़सम से जो कहा है मुल्ला अब्दुल कादिर बुदाइनी ने----
'अकबर शाह की ही फतह समझो----,
'तब तो जिहाद कायम रहेगी ---'
'कौन जाने ---'
'अभी तो बेगमात काफिरों से चिट्ठी रहती है ---'
'काफिर --- बुतपरस्त घिनौने कुत्ते ---'
'इनसे ज़ज़िया लेना हमारा हक है ---'
'फिर ये मानते क्यों नहीं ---'
'हिन्दू बड़ा जिद्दी होता है ---'
'और जिसमें ये विरहमन ।'
'दोज़ख की मार हो इस पर ।'
'लेकिन ये जो मुसलमान हुए हैं देसी कुत्ते । उनकी जुरत देखो कि हमारा मुकाबला करने चले हैं ।'[5]

इसी तरह काफिर, ज़हालत, कम्बख्त, पाक, कायदा, सवाब, बगावत लहू, सरकश, फतह, दोज़ख, अल्लाह, बुतपरस्त, दर्द, इत्यादि उर्दू शब्दावली का यथास्थान प्रयोग हुआ है । सामान्य पात्रों की बातचीत में सीधी सरल बोलचाल की भाषा के ही दर्शन होते हैं । जैसे :

'दल के दल लुटेरे घुस रहे हैं ।
'हाय, अब क्या होगा ?'
'नाव मंझधार में ले चलो'
'पर हम उल्टे से रहे हैं'
'तो फिर धार में छोड़ दो'

'कहां पहुंचेंगे फिर ?

'कहीं भी मरने से तो यही अच्छा है '

'कोई कहता है, 'वासुदेव के धाम जाने में भय क्यों ?

'तो क्या मारे जाएं ? '

'नारायण ही रक्षक हैं ।'[6]

जहां महाराजा शिवसिंह की भाषा शुद्ध, सुगठित एवं गरिमामयी है वहां दूसरी ओर विदूषक की भाषा, उसकी प्रवृत्ति के अनुकूल व्यंग्यविधायिनी है :---

'बाहर के विशाल प्रांगण में विदूषक खड़ा है ।

पूछता है , 'महाराज ! आज दो-दो चन्द्रमाओं को छोड़कर कहां जा रहे हैं ? '

महाराज का मन स्थिर नहीं है । भर्राए स्वर में कहते हैं -

'पिंगल ! जिस प्रकार दो दर्पण एक-दूसरे से चिपकाकर धर देने पर उनकी कोई भी पीठ बिम्ब ग्रहण नहीं करती उसी प्रकार मेरे मन में अंधकार छा रहा है ।'

विदूषक कहता है, ' महाराज ! एक चाकू लेकर दोनों की बारी-बारी पीठ रगड़ना प्रारंभ करें न ?

'तो भी बिम्ब नहीं दीखेगा पिंगल ! केवल उनको आर-पार ही तो किया जा सकता है ---' विदूषक हतप्रभ होता है कहता है, ' तो देव ! फिर एक ही को रगड़िए न ? '[7]

'राजा के मुख पर व्यंग्य दिखाई देता है । वह कहता है,' मेरे स्वतंत्र राज्य का अपमान वे तुर्कों के दास करेंगे ? सिंह-सिंह लक्ष्मीनारायण की मुद्रा जब खड्ग उठाती है--- 'तब वे गीदड़ों की भांति कांपने लगते हैं महाराज ! किन्तु जब सूर्य चला जाता है तब गीदड़ कब हुआं-हुआं नहीं करते ?'

राजा मुस्कराता है । दोनों प्रसन्न होते हैं ।

'उठिए देव ! विदूषक कहता है, ' जब ही एक-जटित अंगूठी उंगली पर चढ़ जाती है तब लोक यही कहता है-- हीरे वाली अंगुली, देह वाली नहीं ।'[8]

महाराजा शिवसिंह की पत्नी महारानी लखिमा और विद्यापति की पत्नी की भाषा विषादपूर्ण है :---

महारानी - 'चलिए अब फिर दुःख चिन्ता । समझ में नहीं आता, आपको क्या हो जाता है ? कितनी आशा करती थी कि आएंगे, तब हम आनन्द मनाएंगे और यहाँ कोई हमारे बीच में आ ही जाता है । इससे तो अच्छा यही था कि मैं मर जाती ।'[9]

कविपत्नी ' कहते क्यों नहीं, मैं तुम्हारे काम में एक बाधा बन गई हूँ है न यही बात ? हाय रे मेरे भाग्य । किसी साधारण पुरुष से विवाह होता तो अपनी छोटी-सी गिरस्ती में स्वामिनी तो होती ? यहां तो सब कुछ होने पर भी कुछ नहीं है । जो कुछ सुख था, वह तो बचपन में ही भोग लिया । अब क्या रखा है ।'[10]

पात्रों की भाषा जहाँ सीधी-सरल बोलचाल की भाषा है वहाँ दूसरी ओर चिंतन की भाषा प्रगाढ़, अर्थगर्भित एवं गठी हुई शुद्ध साहित्यिक भाषा है :-

'--- मनुष्य संसार में अपनी आस्था के अनुसार ही होता है । हमारी आस्था हमारे जीवन के यथार्थ से भी बड़ी है । हमारी आस्था समस्त सृष्टि से मानव-हृदय के तादात्म्य का बिम्ब है और वह मनुष्य के रक्त-मांस में सीमित नहीं रहती, वह पीढ़ी-दर पीढ़ी चेतना में ज्योति बनकर उतरती है । इसीलिए लौकिक-कर्दम पर ही हमारा विश्वास-कमल खिल रहा है । यह सब ऊंच-नीच, लघुता-महानता, घृणा और प्रेम, दरिद्र-धनी का भेद, यह सब हमारे अविवेक हैं, जिन्हें संसार के क्षेत्र में प्रयोगात्मक माना गया है जिसमें दैहिक सुख-दुःख है, किन्तु इनसे अधिक शक्तिशाली आस्था है, जिसका मूल केवल मानवीयता है और जो प्रयोग के परे है, क्योंकि वहाँ मानव की पराजय कभी कुण्ठा में अपनी इति नहीं करती, वह वहाँ व्यापक अनुभूतियों का सृजन करती है और अपनी सारी अपूर्णता को अपने अस्तित्व की लघुता की अभावात्मक स्वीकृति में अपने लिए एक बन्धन के रूप में खड़ा नहीं करती, वरन् सहृदयता का आश्रय लेकर प्रारंभ सृष्टि से अन्त प्रलय तक व्यापक रूप में अपने को ही एक महान के रूप में प्रस्तुत करती है ।'[11]

लेकिन ऐसे स्थल बहुत कम हैं ।

लेखक जहां भावुक हो उठा है, वहां उसकी शब्दावली, छोटी-छोटी धारा प्रवाह वाक्यावली पढ़ते हुए ऐसा लगता है मानो हम उपन्यास नहीं, कविता पढ़ रहे हों :---

"मैं चला जा रहा हूं ।
मेरी पीठ पर दो आंखें जमी हैं ।
मैं मुड़कर देखता हूं
इन आंखों में ममता है, आशीष है
ये किसके नेत्र हैं
और यह तो वैष्णवबद्ध हैं
और सामने दो आंखें और हैं ----
मैंने यही कहा था
क्या कहा था
कवि अमर होगा
अमर । अमर क्या है ?
मनुष्य का प्रेम
क्या यह सत्य है ।" [12]

उपन्यास में स्थान-स्थान पर ऐसे धारा-प्रवाहिक वाक्यों का प्रयोग देखते ही बनता है :---

"मांझी फिर गाते हैं ----
और यों ही हम गाते जाते हैं --- यमुना गा रही है --- गंगा गाएगी और जब फिर मैं बिसपी पहुंचूंगा तब मेरा रोम-रोम गाएगा--- धरती गाएगी--- भगवान मनुष्य बनकर गाने लगेगा --- जैसे चुंबक को लोहे के टुकड़े से रगड़ते रहने से अन्त में वह लोहे का टुकड़ा भी चुंबक बन जाता है --- ।" [13]

कहीं भी कोई भी शब्द, कोई भी वाक्य व्यर्थ नहीं बन पड़ा है । छोटे-छोटे वाक्यों के द्वारा लेखक ने बड़ी सरलता से मन:स्थिति एवं परिस्थिति को रूपायित किया है :---

'स्त्री रोती है ।
राजा नहीं समझता ।
वह कारण जानना चाहता है ।
वह देखता रहता है ---
देखता रहता है ---
मल्लिकाओं में से गंध आ रही ---
वहीं मन्दिर में घण्टा निनाद हो रहा है ---
जीवन एक बोझ-सा है ---
रानी अब रो चुकी है ---
स्तब्ध बैठी है ---
राजा उठ खड़ा होता है ---
वह द्वार पर जा पहुंचता है ---
रानी मूर्च्छित हो जाती है ---
दासियां जागती हैं ---
राजा चला गया है --- ।'[14]

लेखक की भाषा सर्वत्र सशक्त है । वह सर्वत्र कम पर चुने हुए शब्दों का प्रयोग करता है । कम से कम कहकर वह अधिक से अधिक प्रभाव पैदा करने की कोशिश करता है :---

'कितना विस्फारित - सा गहन अंधकार में ग्रस्त एक विस्तृत आकाश है । और निविड़ की सांय-सांय-सांय सुनाई दे रही है । दिगंत की व्यापकता में एक ही निस्तब्धता छा रही थी, कोई पीड़ा नहीं, केवल अस्तित्व । अस्तित्व में न संवेदना, न प्रतिकार । केवल सत्ता । चारों ओर निरावलंब अंधकार । तारे नहीं, आविभूत सी तरलता का एक आच्छादन । और कुछ नहीं ।'[15]

अलंकारिक भाषिक - प्रयोग भी यथास्थान, आंशिक रूप में प्रयुक्त हुए हैं :---

'--- वैसे ही मुझे भी भूख लगी । देह-पूजा का लोलुप असुर मेरे भीतर जाग उठा ।'[16]

'--- वह ऐसे रुक गया जैसे न जाने क्या-क्या कह देना चाहता था, किन्तु फिर भी कह नहीं रहा था, जैसे मन्त्रों से अवरुद्ध हो गया-सा कोई साँप था ।'[17]

'कुछ देर के बाद सब चले गए । उनके घोड़ों की टापों की आवाज़ को जब अंधेरे की जीभ ने निगलकर आकाश और पृथ्वी जैसे अपने होठों को चाट लिया, मैं बाहर आया । अब चाँद डूब चला था ।'[18]

'जिस प्रकार दो दर्पण एक-दूसरे से चिपकाकर धर देने पर, उनकी कोई भी पीठ बिम्ब ग्रहण नहीं करती, उसी प्रकार मेरे मन में अंधकार छा रहा है ।'[19]

यथास्थान ध्वन्यात्मक संकेतों का भी बड़ी कुशलता से प्रयोग हुआ है :---

'वह देखा ।'

छपाक छपाक ---

छपछाप, छपछाप---

छपक छपक छपछाप--- छापछप----

दोनों तरफ से घेरा डाला गया है ।'[20]

'ध्वनि आती है- द्रिगि द्रिगि थोद्रिम द्रिमिया ---

यह लो नृत्य आरम्भ हो गया है । वही रास, आनन्द, करताल सम पर उठते हैं । मृदंग बजने लगा है । मादल बोलता है --- डिमडिम डफ डिमिक डिम । मंजीरों से स्वर आता है, रुनझुन, रुनझुन--- किंकिणियां रणन करती हैं, वलयों से कनकन की झंकार झूमती है । मधुवन में तुमुल रार हो रहा है । बीन और मुरज बज रहे हैं-- सा रे ग म प ध नि सा '[21]

'बाबा होऽऽऽऽऽ बा --- बा ---' बाबा होऽऽऽऽ बाऽऽऽऽ बाऽऽऽऽ'[22]

लेखक ने उपन्यास के बीच में कुछ विचित्र, किन्तु नवीन शाब्दिक-प्रयोग भी किए हैं यथा :---

'फुरफुराती ज्योति'[23] 'चन्द्रमा फकाफक चमक रहा है'[24]

'स्त्री के बाल बिखर गए थे और आंखों में एक बड़ा अजीब-सा जंगली आनन्द था ।'[25]

"वे सुन्दरियां चलती हैं तब पायलों की झनक-झनक से दिगंतों में वासना गुनगुनाने लगती है ।"[26]

"वहां घोड़ों के पांवों का पानी में खलभलाना सुनाई पड़ता है ।"[27]

शब्द-भण्डार के साथ-साथ लेखक की भाषा-शैली में मुहावरे और सूक्तियों से भी अभिव्यक्ति की साज-सज्जा हुई है । लेखक जहां सावधान होकर लिखता है, वहां सूक्तियों का प्रयोग अवश्य करता है और जहां भावना में डूबकर लिखते हैं, वहां भाषा भी सहज हो जाती है एवं बीच-बीच में मुहावरे भी अपनी छटा दिखलाते हैं ।

सूक्तियां :- उपन्यास में प्रयुक्त सूक्तियों से लेखक का गहन अध्ययन एवं जीवन के प्रति अनुभव परिलक्षित होता है । यथा :--

"जब मौत सिर पर मंडरा रही हो, तब मनुष्य कितना यथार्थवादी हो जाता है, उससे कुछ भी छिपा नहीं रहता । उस समय अपने स्वार्थ की अति सीमा में बंधा हुआ मनुष्य भी अपने को उतनी ही दूरी से देखता है, जितनी से वह किसी पराए को देखता है । मौत असल में परख ही नहीं करती सिखाती भी है ।"[28]

"काठ जो इतनी कठिनाई से कटता है, वह भी वस्तु का स्वरूप के लिए संघर्ष है और पत्थर जो बहुत ही कड़ा बन जाता है, वह उसका अपना प्रयत्न है ।"[29]

"प्रतिभा कितने भी बन्धनों में क्यों न रहे, यदि वह सच्ची साधना की पुत्री है, तो पत्थर में से भी पानी निकाल लेती है, यश तब मिलता है जब उसके लिए जिया नहीं जाता । जब अपनी हीनता की भावना लुप्त हो जाती है और कर्तव्य-हीनता के स्थान पर ईर्ष्या का लोप करने वाली, स्पर्धा के अहं को नष्ट करने वाली कर्म की चेतना जाग उठती है, तब व्यक्ति में समर्पण ही संतोष बन जाता है, उसे ही देखकर संसार अपना शीश झुकाता है । यश तो पाषाण की मूर्ति में से उजागर होता है, यदि कलाकार पत्थर को भी अपने मन की आकृति देने में सफल हो जाता है ।"[30]

'पुरुष की वासना उतनी जघन्य नहीं होती जितनी स्त्री की। स्त्री अपनी वासना पर लज्जा का अंकुश चढ़ाए रखती है और इसलिए वह बहुत ही भयानक होती है, क्योंकि पुरुष कैसा भी छलिया हो, उसकी वासना सरल होती है, नारी की वासना की भांति गूढ़ और रहस्यमयी नहीं होती।'[31]

'मनोरंजन एक महान प्रेरणाशीलता रखता है। जो काम सहज ही सकते हैं वे तर्क में नहीं हो सकते, क्योंकि तर्क की नींव में संदेह अहं होता है और वह कभी सत्य को नहीं पकड़ता, वह तो एक कुठार की भांति होता है।'[32]

'घड़े में रखे दीपक की ज्योति बाहर नहीं फैलती।'[33]

'यह मनुष्य की देह साधारण वस्त्र नहीं, इसका सीधे आत्मा से संबंध है। आत्मा भी इसमें तभी तक रहती है जब तक इस वस्त्र के ताने-बाने ठीक जुड़े रहते हैं।'[34]

मुहावरों का भी यत्र-तत्र प्रयोग हुआ है। इतना अवश्य है कि कहीं वे जैसी की तैसी शब्दावली में प्रयुक्त हुए हैं और कहीं तत्सम शब्दों का आधार लेकर उन्हें तोड़ा-मरोड़ा गया है। यथा:---

मन गीला होना, फूट-फूट कर रोना, उल्टी मार लगना, सिर उठाना, रोम-रोम जलना, रोंगटे खड़े होना, मौत सिर पर मंडराना, अन्त निकट आना, आँखें लगाए बैठना, मौत के मुंह में जाना, सिर चढ़ाना, इत्यादि। इन मुहावरों का प्रयोग अनायास ही हो गया है, लेखक ने इसके लिए कुछ विशेष प्रयास नहीं किया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि लेखक कहीं भी कृत्रिम भाषा-योजना के चक्कर में नहीं पड़ा है।

प्रस्तुत कृति में विद्यापति, उसका युग और लेखक के भाषा-शिल्प के साथ-साथ एक अन्य पात्र भी कृति में आया है जिसकी अमिट छाप छुटाये नहीं छूटती, वह है - लखिमा। विद्यापति के गीतों से प्रभावित राजा शिवसिंह की पत्नी लखिमा को विद्यापति की पुजारिन के रूप में चित्रित किया गया है। राजा

शिवसिंह की मृत्यु के पश्चात लखिमा विद्यापति की प्रतीक्षा में आखें बिछायी बैठी है ---

'आयेंगे मालती । भगवान ने चाहा तो अवश्य आयेंगे । और फिर उन आंखों में आलोक-सा पुलक उठता है ।'[35]

लेखक की अतिरिक्त सहानुभूति लखिमा के साथ है । लखिमा की इसी आराधना से प्रभावित होकर ही लेखक ने प्रस्तुत कृति का शीर्षक विद्यापति के नाम पर न देकर बल्कि एक सर्वथा उपयुक्त शीर्षक दिया है - 'लखिमा' की आखें । ' प्रामाणिकता की दृष्टि से भी प्रस्तुत कृति एक सफल जीवनीपरक उपन्यास की अधिकारिणी है । विद्यापति के जीवन-वृत्त उनकी ठीक-ठीक जन्म-तिथि, उनके आश्रयदाता आदि के विषय में हमें विभिन्न सूत्रों से प्राप्त सामग्रियों पर निर्भर करना पड़ता है । मुख्यत: ये सूत्र हैं मैथिल-ब्राह्मणों के पंजी-प्रबन्ध कवि के सम्बन्ध में उनके समकालीन एवं परवर्ती लेखकों द्वारा यत्किंचित उल्लेख एवं कवि की रचनाएं । मैथिल ब्राह्मणों के पंजी प्रबन्ध से ज्ञात होता है कि वे विसइवार मूल के मैथिल थे । लेखक का उद्देश्य कवि विद्यापति के काव्यमय जीवन का चित्रण करना रहा है जिसके लिए उन्होंने विद्यापति के अनके पदों का सहारा लिया है । मात्र दो-तीन घटनाओं के यथा- उनका जन्म-स्थान मिथिला था, राजा शिवसिंह उनके आश्रयदाता थे -- इत्यादि को छोड़कर ऐसा प्रस्तुत उपन्यास में कुछ भी नहीं जिसे सत्य-असत्य की तराजू पर रखकर तोला जाये । उनके जीवन से संबंधित कुछ मुख्य घटनाओं को कृति में स्थान दिया है किन्तु वे इतिहास-प्रसिद्ध है । विद्वानों द्वारा मान्यता-प्राप्त हैं, जिनको लेखक ने अपनी कल्पनाशक्ति से सजीव और रोचक रूप में प्रस्तुत किया है ।

---00000---

## पाद टिप्पणियां :

1. लक्षिमा की बातें -पृष्ठ-15 ।
2. -वही- पृष्ठ- 28 ।
3. -वही- पृष्ठ- 10 ।
4. -वही- पृष्ठ-26 ।
5. -वही- पृष्ठ -137 ।
6. -वही- पृष्ठ- 131 ।
7. -वही- पृष्ठ- 84 ।
8. -वही- पृष्ठ- 90 ।
9. -वही- पृष्ठ- 82 ।
10. -वही- पृष्ठ- 93 ।
11. -वही- पृष्ठ- 17 ।
12. -वही- पृष्ठ- 36 ।
13. -वही- पृष्ठ- 38 ।
14. -वही- पृष्ठ- 84 ।
15. -वही- पृष्ठ- 140 ।
16. -वही- पृष्ठ- 22 ।
17. -वही- पृष्ठ- 7-8 ।
18. -वही- पृष्ठ- 14 ।
19. -वही- पृष्ठ- 84 ।
20. -वही- पृष्ठ- 133 ।
21. -वही- पृष्ठ- 102 ।
22. -वही- पृष्ठ- 66 ।
23. -वही- पृष्ठ- 137 ।
24. -वही- पृष्ठ- 102 ।
25. -वही- पृष्ठ- 14 ।
26. -वही- पृष्ठ- 99 ।
27. -वही- पृष्ठ- 131 ।

28. लक्ष्मा की आखें - पृष्ठ 9 ।
29. -वही- पृष्ठ 12 ।
30. -वही- पृष्ठ 83 ।
31. -वही- पृष्ठ 85 ।
32. -वही- पृष्ठ 86-87 ।
33. -वही- पृष्ठ 91 ।
34. -वही- पृष्ठ 135 ।
35. -वही- पृष्ठ 130 ।

## (2) लोई का ताना

'लोई का ताना' कबीर की जीवनी पर आधारित उपन्यास है। ऐसा महान् व्यक्ति, जिसने जनता में नव-प्राण संचार कर जन-कल्याण की भावना पैदा की हो, किन्तु जिसके जन्म और मृत्यु को लेकर विवाद रहा हो, उसका सम्पूर्ण जीवन-चरित्र प्रस्तुत करना दुष्कर है। मध्यकालीन कवियों में 'कबीरदास' एक ऐसे ही महान् व्यक्ति रहे हैं, जिनके जीवन के विषय में कोई निश्चित तथ्य प्राप्त नहीं होते। आज भी उनके जीवन-विषयक तथ्यों को लेकर विवाद बना हुआ है। उनका सम्पूर्ण जीवन-चरित्र आज भी अनुपलब्ध है। कुछ विद्वानों ने कबीर के जीवन-विषयक तथ्यों को खोजने में महत्वपूर्ण प्रयास किये भी हैं, जिनके आधार पर कबीर के जीवन-चरित्र पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ा है। डा० रामकुमार वर्मा, डा० बड़थ्वाल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रभृति विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार अनेक छुटपुट प्रयासों के रूप में अन्य अनेक छोटे-बड़े विद्वानों द्वारा कबीर पर लिखित जीवनियां पढ़ने को मिलती हैं। किन्तु उपन्यास के रूप में कबीर के जीवन को प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम सराहनीय प्रयास डा० राघव ने 'लोई का ताना' में किया।

'लोई का ताना' का कथानक कबीरदास के जीवन-चरित्र पर आधारित है। लेकिन लेखक ने कबीर की जीवनी अन्य अनेक जीवनीकारों की भांति मात्र किंवदंतियों और जनश्रुतियों के आधार पर ही प्रस्तुत नहीं की, वरन् कबीर की साहित्यिक कृतियों के अध्ययन-विश्लेषण के आधार पर प्रस्तुत की है। अपने इस मन्तव्य की ओर संकेत लेखक ने भूमिका में ही कर दिया है।

"वैसे कबीर के जीवन-संबंधी तथ्य अधिक नहीं मिलते। मैं उनके साहित्य को पढ़कर जिन निष्कर्षों पर पहुंचा हूं, उन्हीं को मैंने उनके जीवन का आधार बनाया है।"[1]

साथ ही लेखक ने कबीर की कृतियों के अध्ययन-विश्लेषण के आधार पर कबीर की साहित्यिक - स्थिति को उचित रूप देने के लिए दूसरों का विरोध भी किया है । इसकी ओर हल्का-सा संकेत कृति की भूमिका में ही मिल जाता है :---

"कबीर को लोगों ने गलत समझा है । --- कबीर इतिहास में एक उलझन बन गया । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ब्राह्मणवादी आलोचक थे । उन्होंने कबीर को नीरस निर्गुणिया कह दिया । वे कह गए हैं कि कबीर ने कोई राह नहीं दिखाई । कबीर ज्ञान को रहस्य में डुबाता था । साधारण जनता कबीर को समझ नहीं सकी ।

यह सब ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण हैं अतः त्याज्य हैं । अवैज्ञानिक हैं ।"[2] - इस दृष्टि से भी 'लोई का ताना' एक सराहनीय प्रयास है ।

कबीर का सम्पूर्ण जीवन-वृतान्त आठ अध्यायों में विभाजित है । इन अलग-अलग अर्थगर्भित शीर्षकों से अभिहित अध्यायों में कबीर के जीवन के अनेक घटना-प्रसंगों को समेटने का सराहनीय प्रयत्न किया गया है । यदि इन अध्यायों का क्रमशः विवेचन किया जाए तो पता चलेगा कि पहले कमाल 'उपसंहार' में अपनी परिस्थिति बताता है :---

"मैं कमाल हूं । मेरे बाप का नाम कबीर था और मां का नाम लोई था ।"[3]

साथ ही कबीर के वास्तविक मत जिसे उसके अनुयायी गलत समझे हुए हैं - को स्पष्ट किया गया है --

"--- इन सब बंधनों से परे भी एक सत्य है, वह क्या है ?
मनुष्य ।"[4]

दूसरे अध्याय 'उपसंहार से पहले' में कबीर की मृत्यु के बाद गुरुओं की कविताओं को सुनाकर आपस में लड़ने वाले चेलों का वर्णन है । इस अध्याय

में जो मुख्य बात सामने आती है वह है कबीर की विचारधारा पर गोरखपंथ का प्रभाव । हरनाथ और उज्झकनाथ- दो गोरखपंथियों के माध्यम से नाथपंथ का उल्लेख किया है । साथ ही कबीर की मृत्यु की सूचना भी दे दी गई है । तीसरे अध्याय 'सूर्यास्त हो गया' में, जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है कि कबीरदास की मृत्यु का वर्णन है । कबीर कोई साधारण पुरुष नहीं थे । उनके विशिष्ट और लोकमानव रूप की ओर लेखक ने यहां संकेत किया है । कमाल का कथन है :---

'--- मेरे पिता एक ऐसे नये स्वप्न की खोज में थे, जहां हिन्दू हिन्दू नहीं था, जहां मुसलमान मुसलमान नहीं था, इन सबसे ऊपर मनुष्य था, एक नया आदमी, नया आदमी --- ।'[5] - इसी अध्याय में ही कबीर की मृत्यु पर हिन्दू-मुसलमानों के झगड़ने का कुशल - चित्रण भी देखने को मिलता है । लेखक ने अपने प्रगतिवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए कबीर की लाश के लुप्त हो जाने की चमत्कारी घटना का यहां उल्लेख नहीं किया । कारण स्पष्ट है ---

'तुमने देवता पर चढ़ाने वाली वस्तु को मेरे पिता पर श्रद्धा से चढ़ाया है । क्योंकि पिता अब मिट्टी हो गए हैं । तुम मिट्टी के पीछे लड़ना चाहते हो । उठा लो यह फूल, बांट लो इन्हें, गाड़ दो, जला दो, इस दुनिया के पहले इन्सान को अपने छोटे धर्मों के दायरों में बांधने के लिए काटो नहीं, वह तुम्हारे दफनाने और जलाने से बड़ा नहीं हो सकेगा, वह ज़िन्दा था, तब तुमने उसे क्यों नहीं बांट लिया ? तब तुम लोग डरते थे । तुम्हारा सुल्तान कांपता था, तुम्हारे मुल्ला डरते थे, तुम्हारे पण्डित और तुम्हारे विशाल मन्दिर जो अन्याय के प्रतीक बनकर खड़े थे, तब डरते थे । चले जाओ । । आदर और प्रेम के नाम पर, श्रद्धा के नाम पर, तुम उस आज़ाद आदमी को अन्त में गुलाम नहीं बना सकते । वह तुम सबसे ऊपर था । जो तुम्हारे दायरों को चुनौती देकर जीता रहा । तुम्हारे धर्मों के ऊपर अपने सत्य का झण्डा फहराता रहा, उसे तुम अपने धर्मों में दफनाना या जलाना चाहते हो ? यह असंभव , यह असंभव है --।'[6]

लेखक को कबीर की पूरी पकड़ है, इसका स्पष्टीकरण इसी अध्याय में हो जाता है । चौथे अध्याय 'पिता का बाना' में कबीर का क्रांतिकारी रूप व्यक्त हुआ है जिसमें जोगियों, पण्डितों, शाक्तों, मौलवियों आदि को उनके बाह्य-आडम्बरों के कारण फटकारा गया है । पांचवें अध्याय 'लोई का ताना' में कबीर के घुमक्कड़, क्रांतिकारी तथा पारिवारिक जीवन को प्रस्तुत किया गया है । साथ ही लोई माता, प्रेमिका, आदि रूपों में सामने आई है । छठे अध्याय 'आरम्भ' में कबीर के विवाह से पूर्व का वह रूप है जब वे सामाजिक विषमताओं का अध्ययन कर रहे थे । यहीं कबीर-लोई प्रेम-प्रसंग का भी चित्रण हुआ है । सातवें अध्याय 'मरजीवे को तो देखो' में कबीर की महानता नए पंथ और चिन्तन को स्पष्ट किया गया है । आठवें अंतिम अध्याय 'उसकी राह अजीब थी' में कबीर-जीवन से संबंधित अनेक प्रसंगों को एक-साथ प्रस्तुत किया गया है जैसे---

1. लोई-कबीर विवाह
2. कबीर-जन्म रहस्य
3. नीमा-मृत्यु
4. कबीर-रामानन्द प्रसंग
5. कबीर पर सिकन्दर लोदी का अत्याचार
6. लोई का बलिदान ।

इन आठों अध्यायों के मूल में लेखक की जो मूल भावना कार्य कर रही है कबीर को एक असाधारण पुरुष एवं लोकमानव के रूप में प्रतिष्ठित करना- जिसमें लेखक को पूर्णत: सफलता मिली है ।

आज मध्यकालीन कवियों में निर्विवाद रूप से 'कबीर' को विशेष महत्व दिया जा रहा है । इसका मुख्य कारण धार्मिक रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों के प्रति उनका विद्रोही स्वर है । डा० राघव की प्रगतिवादी विचारधारा ने जिसे बड़ी कुशलता से प्रस्तुत किया है । मध्यकाल में कबीर ही ऐसे अकेले कवि हैं जिन्होंने जीर्ण परम्पराओं का खुलकर विरोध किया । वस्तुत: वे सच्चे

विद्रोही थे । उनका विद्रोह अंधविश्वास, मिथ्या-आडम्बर, जातिगत भेदभाव तथा धार्मिक-संकीर्णता के विरुद्ध था । क्योंकि कबीर ने अपने समय के जीवन-प्रवाह को खुले नेत्रों से देखा था इसीलिए वे 'कागद की लेखी' पर विश्वास नहीं करते थे, उन्होंने जो कुछ कहा है उसके पीछे उनका अनुभव विद्यमान है । कबीर एक ऐसे स्थान की खोज में थे, जहां हिन्दू-मुसलमान, ऊंच-नीच का संघर्ष नहीं था । केवल मानव-कल्याण को ही उन्होंने सर्वोपरि माना । चाहे वह मानव हिन्दू हो या मुसलमान, ऊंच हो या नीच । यही कारण है कि उन्होंने सभी धर्मों का ~~विरोध~~ विरोध कर 'मानव-धर्म' की स्थापना की'।

'मनुष्य का कल्याण ही धर्म है ।'[7]

कबीरदास जैसे-जैसे अनेक धर्मों के सम्पर्क में आते गये, वैसे-वैसे उनकी विचारधारा परिवर्तित होती गई । पहले उनका हिन्दू - धर्म में विश्वास था, फिर उनका झुकाव योगियों की तरफ हो गया । उनका सगुण-साकार ईश्वर निर्गुण-निराकार में परिवर्तित हो गया । अन्त में सभी धर्मों की निस्सारता का ज्ञान उन्हें हो गया क्योंकि 'जिस तरह पहले घुटनों पर चलते हैं फिर दोनों पांव पर चलते हैं, उसी तरह आदमी की समझ भी धीरे-धीरे ही पकती है ।'[8]

और इन सभी धर्मों से हटकर कबीर ने मानव-धर्म की स्थापना की :

"मैं अपने जीवन को पलटकर देखता हूं, लोई 'मुझे' अजीब - सा लगता है । मैं नीच कुल में जन्मा । रामानन्द गुरु ने मुझे चेता दिया । वह सचमुच एक झटका था । मैंने देखा, मैं उस उपदेश के फलस्वरूप एक बार अपने पुराने भय और बन्धन तोड़ सका । मैंने देखा, जोगी-सूफी, अवतारवादी, पुराणवादी, वेद और कुराणवादी सब छोटे थे और मैंने देखा भगवान का रहस्य इन सबसे परे है । मैं उसे ही गाता रहा, लोई पर अब देखता हूं, अब अनुभव करता हूं कि संसार तो प्रेम है । धरम क्या है ? संसार में ढंग से रहना धरम है और कुछ नहीं ।[9]

प्रस्तुत कृति कबीर की जीवन-गाथा के साथ-साथ उसके युग-संघर्ष का भी दस्तावेज है । कबीर की कथा के साथ-साथ उसके समाज और युग की कथा भी वर्णित है ।

कबीर के साथ-साथ उसका युग भी बोला है । कबीर के चरित्र के रूप में उसके युग को ऐसी सशक्त वाणी दी है कि पाठक के सामने उस शती का चित्र-सा खड़ा हो जाता है । डा० राघव के प्रयास की सबसे बड़ी सफलता यह है कि उन्होंने कबीर के जीवन के प्रमुख घटना-प्रसंगों की रेखाओं में अपनी अद्वितीय कल्पना एवं सूझ से ऐसा रंग भर दिया है कि इसमें केवल कबीर का चरित्र ही उभरकर सम्मुख नहीं आता, वरन् उस युग की समस्त धार्मिक , सामाजिक, राजनैतिक वातावरण सजीवता से अभिव्यक्त हुआ है । कबीर का जिस समय आविर्भाव हुआ, उस समय देश की राजनीतिक , सामाजिक और धार्मिक स्थिति अत्यंत शोचनीय थी । कबीर के समय का समाज अपने आंतरिक विरोधों के कारण टूट रहा था । समाज के संचालकों में 'कथनी ' और 'करनी ' में बड़ा व्यवधान उपस्थित हो गया था । ब्राह्मण केवल ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने मात्र से अपने को उच्च मानता था, चाहे उसकी दिनचर्या वैश्य या शूद्र की ही क्यों न हो , दूसरी ओर शूद्र-कुल में जन्म लेने वाला शूद्र की ही छाप लिए मरता था, चाहे उसके गुण-कर्म कितने भी श्रेष्ठ हों । विश्वनाथ के मन्दिर के प्रसिद्ध महन्त के विषय में कबीर ने देवीलाल से कहा---

'मान है, पर काम तो उसके बड़े नीच हैं काका । सुबह कलारिन को छेड़ रहा था । वह रो रही थी ।'[10]

इसी प्रकार मन्दिर के पण्डों के विषय में कबीर का कथन---

'अभी तीन दिन पहले की बात है । पण्डों ने औरत के जेवर उतार लिए और लाश गंगा में उतार दी । जिजमान रोता-चिल्लाता लौट गया । कौन सुनता है ।'[11]

ऊंच-नीच का भेदभाव इतना बढ़ गया था कि उच्चवर्ग अपने से नीच वर्ग के साथ पशुवत व्यवहार करते थे ---

'मैं देखता आया हूं आज । दावत हो रही थी । जूठन फिंक रही थी । बाहर मंगी बैठे थे और वहां ठाकुर ऐसे जूठन फेंकता था कि कुत्ते और मंगी के बच्चे साथ-साथ झपटते थे ।'[12]

हिन्दू-मुसलमानों में भेदभाव था । मुसलमानों के अत्याचारों के कारण अनेक छोटी जातियां मुसलमान हो रही थीं । अपने अपने दायरों में दोनों ही अपने को एक-दूसरे से श्रेष्ठ समझते थे । किन्तु कबीर ने इस भेदभाव को निराधार माना ---

'उनका कहना था कि जिस तरह हिन्दू अपने भेदभावों में फंसे हुए हैं, उसी तरह मुसलमान भी अपने दूसरे ढंग के घमंड में चूर हो रहे हैं । इन दोनों को असली मर्म नहीं मालूम ।'[13]

कबीर ने स्पष्ट रूप से कहा :

'यही कि जिनकी जात नीच है उनके लिए ये ब्राह्मण और ये मुल्ला दोनों समान हैं । वे हिन्दू-समाज के जात-पांत के भेद को देखकर फूट डालकर अपने फायदे के लिए लोगों को मुसलमान बनाकर उनका इस्तेमाल करते हैं, और इस तरह संस्कृति और धर्मकी रक्षा के नाम पर, नीचों को ऊपर उठने के अहंकार के नाम पर हिंसा पलती है, घृणा बढ़ती है । वह मनुष्य को फिर जातियों में बांटती है और छुआछूत बढ़ती है ।'[14] सामाजिक-विषमताओं की ही भांति धर्म भी विषमताओं की आड़ में पल रहा था । धर्म धन-प्राप्ति का साधन मात्र बनकर रह गया था । अंधविश्वासों और रूढ़ियों की आड़ में धर्म का घिनौना व्यापार चलता था । कबीर ने इनका विरोध किया ---

'--- अगर काशी में मरने से स्वर्ग मिलता है, तो तुम्हें वह स्वर्ग नहीं चाहिए । तुमने कहा था कि मगहर ही में मरुंगा, भले ही मरकर गदहे का जन्म लेना पड़े ।--- काशी अगर महादेव की है और महादेव सर्व-व्यापी हैं, तो मगहर क्या महादेव का नहीं है ?'[15] कबीर ने समाज और धर्म में व्याप्त इन विषमताओं को दूर कर मानव-कल्याण की भावना स्थापित की । ऊंच-नीच, हिन्दू-मुसलमान के भेद-भाव को निराधार मानकर मानव को ही सर्वोपरि ठहराया और 'मानवधर्म' की स्थापना की । कबीर के समय में नारियों की सामाजिक स्थिति शोचनीय थी । नारी मात्र भोग की वस्तु समझी जाती थी ।

कबीर की नारी-विषयक मान्यता थी कि 'कौन कहता है स्त्री माया है, पाप है । वह जननी है, वह आद्या सृष्टि है । वही पूर्ण है । पुरुष उसका अंश है स्वयं अनन्त भगवान भी स्त्री-हीन नहीं है । --- वह पुरुष की विकृत वासना ही है जो इसे देखकर केवल कामिनी देखता है । वह इसकी आत्मा के पूर्णत्व को नहीं देखता ।'[16] कबीर के एक पद 'नारी की झांई परत, अन्धा होत भुजंग' को लेकर विद्वानों में यह धारना बन गई थी कि कबीर ने नारी को माया माना है । डा० राघव ने यहां कबीर की नारी-विषयक मान्यता का स्पष्टीकरण करते हुए नितान्त मौलिक मत की स्थापना की है । कबीर ने लोई से कहा ---

'वे जो नारी को विषय की ही वस्तु समझते हैं, उनके लिए क्यों ऐसा नहीं कहा जाये ? अगर मैंने सब नारियों के लिए ऐसा कहा होता, तो तुझसी घरवाली के साथ घर रहता । कहीं अकेला घटकता नहीं ।'[17]

कृति में राजनैतिक परिस्थितियां अधिक नहीं उभरी हैं । लेखक ने राजनीति को सामाजिक-कल्याण के रूप में स्वीकृति प्रदान की है ।

इस प्रकार 'लोई का ताना' में कबीर के साथ-साथ कबीर के युग का लेखक की कल्पना - कूची ने अपने प्रतिभा के रंगों से ऐसा सतरंगा चित्र अंकित किया है, जिसकी अमिट छाप पाठक के मन-मस्तिष्क पर अंकित हो जाती है । इतना ही नहीं, 'लोई का ताना' तत्कालीन परिवेशगत सत्य की ओर भी संकेत करता है । आज भी कबीर-युगीन समाज और धर्मगत विषमताएं विद्यमान हैं । ऊंच-नीच जाति की विडम्बना, धार्मिक अंधविश्वास और रूढ़ियां आज भी व्याप्त हैं । इस प्रकार 'लोई का ताना' में हमें कबीर के जीवन-चरित्र एवं तद्युगीन चित्रण के साथ-साथ वर्तमान का संगीत भी सुनाई पड़ता है । इस दृष्टि से 'लोई का ताना' का महत्व असंदिग्ध है ।

शिल्पगत दृष्टि से भी 'लोई का ताना' एक सराहनीय प्रयास के रूप में सामने आया है । यह तो स्पष्ट है कि कृति का कथ्य कबीर के जीवन-चरित्र

पर आधारित है । कबीर के जीवन से संबंधित घटना-प्रसंगों को इन आठ अध्यायों में कथा के रूप में प्रस्तुत किया गया है । समस्त घटनाओं और कथा-प्रसंगों का सूत्रधार केन्द्रीय चरित्र 'कबीर' ही है । लेखक ने कबीर के जीवन से संबंधित घटना-प्रसंगों को कबीर के ही पुत्र कमाल की स्मृति के आधार पर प्रस्तुत किया है, कृति के इन आठ अध्यायों में कबीर के जीवन से संबंधित घटनाओं, प्रसंगों को कमाल की स्मृति के आधार पर प्रस्तुत कर कबीर के व्यक्तित्व-विधायक तत्वों को उद्घाटित किया गया है । 'कमाल' स्वयं स्मृति के आधार पर कालगत सीमाओं को भेद, पीछे जाकर कबीर के जीवन की सारी घटनाओं प्रसंगों को प्रस्तुत करता है । पुत्र द्वारा पिता की जीवनी प्रस्तुत कर लेखक ने अपनी अद्भुत अभिव्यंजनाशक्ति का परिचय दिया है ।

जहाँ तक कथा-प्रवाह का प्रश्न है, प्रवाह नाम की कोई वस्तु इस उपन्यास में नहीं है, सम्पूर्ण उपन्यास में प्रवाहगत व्यवधान साफतौर से देखने को मिलता है । क्योंकि घटना-प्रसंगों में कोई व्यवस्थित क्रम नहीं है । यहाँ 'उपसंहार' पहले है, आरंभ मध्य में । मरण पहले है, जन्म बाद में । प्रेमचन्द के उपन्यासों की भांति आदि मध्य और अन्त के बिन्दुओं की तरह यह नहीं जाना जा सकता कि कथा कितनी आगे बढ़ चुकी है, इस समय वह किस सोपान पर है और अभी उसे कितना आगे चलना है । प्रेमचन्द की उपन्यास-यात्रा में हमें मार्ग पूछने की आवश्यकता नहीं पड़ती और न ही पीछे मुड़कर देखना पड़ता है । बस नाक की सीध में कथा के प्रमुख पात्र के साथ तब तक चलना पड़ता है जब तक मंजिल न आ जाये । परन्तु 'लोई का ताना' में ऐसा नहीं हो पाया है क्योंकि इसमें घटना रूपी टुकड़े बिखरे पड़े हैं । उपन्यास के शुरू में कमाल अपने संक्षिप्त परिचय के पश्चात रुक-रुककर कबीर के जीवन की स्मृतियों को दुबारा भोगता हुआ दिखाता है । इन स्मृति-दृश्यों में कोई क्रम, कोई व्यवस्था, कोई तारतम्य नहीं है जैसे 'मोतियों की माला टूट गई हो और बिखरे मोतियों को फिर से बेतरतीब लड़ी में पिरो दिया जाए ।' उसी तरह से कमाल की स्मृतियों का क्रम उलझा-सा गया है । वास्तव में अतीत के प्रसंगों का स्मृति में कोई

क्रम नहीं होता । इन प्रसंगों को उसी बेतरतीब रूप में प्रस्तुत करना उपन्यास की विशेषता है, किन्तु प्रस्तुत कृति उपन्यास के साथ-साथ पहले जीवनी है । जीवनी में सभी घटना-प्रसंगों को क्रमशः तिथिक्रम से या आयु की अवस्था के साथ अग्रसर किया जाता है । इस दृष्टि से यह दोष है । किन्तु इतना होने पर घटना प्रसंगों में कोई उलझाव नहीं आने पाया है । सारी घटनायें और प्रसंग तत्काल अपने सन्दर्भों में स्पष्ट होते चलते हैं । साथ ही घटना-प्रसंगों की ऐसी क्रम-व्यवस्था से कथा में रोचकता का भी समावेश हो पाया है । यदि इसे जीवनी के रूप में लिखा जाता तो कबीर-जन्म पहले और मृत्यु बाद में दिखानी पड़ती । यहां लेखक के अद्भुत अभिव्यंजना-कौशल ने कबीर-जन्म जो आज भी रहस्यमय बना हुआ है, उसे आरम्भ में न बताकर एक रहस्य की तरह अन्त में बताया है । उपन्यास का अन्त लोई के अद्भुत बलिदान की दुःखान्त और मर्मान्तक घटना से कर जैसी मार्मिकतापूर्ण छाप अंकित हो पायी है वैसी शायद कबीर-मृत्यु प्रसंग को अन्त में रखने से संभव न हो पाती ।

कृति की भूमिका में ही लेखक ने कुछ और बातें भी स्पष्ट कर दी हैं ताकि पाठक को कुछ परेशानी न हो । लेखक के ही शब्दों में :---

"अब पुस्तक के बारे में कुछ और बातें साफ कर दूं । कबीर पढ़े-लिखे न थे । कविता लिखते नहीं थे । वे तो फारेन सुनाने - वालों में थे । लोग लिखा करें, उन्हें इससे बहस नहीं थी । वे तो कह देते थे । इसी से मैंने उनकी कविताएं उनके मुंह से परिस्थितियों के बीच में सुनवाई हैं । दूसरी बात है कमाल के द्वारा कथा कहलवाना । --- तथ्यों के अभाव में कबीर के जीवन का पूरा चित्र देने में कमाल ने सहायता दी है । --- कमाल ही बोलता है । मैं नहीं बोलता ।"[18]
किन्तु लेखक कृति की भूमिका के इस उपर्युक्त अंतिम मन्तव्य को निभा नहीं पाया है । यह सही है कि सम्पूर्ण पुस्तक में स्थान-स्थान पर कबीर के मुंह से ही उनकी कविताओं को सुनवाया गया है किन्तु उपन्यास के शुरू के तीन अध्यायों 'उपसंहार'

'उपसंहार से पहले ' और 'सूर्यास्त हो गया ' में कमाल ही कबीर की कविताओं को गाता है । दूसरे सम्पूर्ण उपन्यास में शुरू से अन्त तक कमाल ही बोला है- यह भी गलत है । 'उपसंहार ''उपसंहार से पहले ' और 'सूर्यास्त हो गया ' में कमाल ही कबीर की जीवन-झांकी प्रस्तुत करता है किन्तु 'पिता का बाना' में लेखक ने कमाल को एक ओर बिठाल दिया है और कथा का सूत्र बड़ी सफाई से अपने हाथ में ले लिया है ---

'वह एक और चित्र था -- उसे मैं क्या कहूं, इतिहास बोलने लगेगा--।'[19]

पांचवें अध्याय 'लोई का ताना ' का सूत्र फिर कमाल के हाथ में पहुंचा दिया गया है । छठे अध्याय में 'आरम्भ ' में पुन: लेखक कथा की बागडोर सम्भाले आ उपस्थित होता है । 'मरजीवे को तो देखो ' अध्याय में कमाल कथा की बागडोर लेखक के हाथ से झपट लेता है :---

'जिन्दगी पुकारती है 'कमाल रुककर देख '
और मैं बहुत दिन बाद झुककर देख रहा हूं ।' [20]

अंतिम अध्याय 'उसकी राह अजीब थी ' में स्वयं लेखक और कमाल दोनों ने मिलकर कथा का सूत्र अपने हाथों में ले लिया है । इस अध्याय में कमाल के जन्म से पहले की कथा लेखक ने प्रस्तुत की है बाद में कमाल ने । अन्त में कमाल के शब्दों में ही लेखक ने कबीर का गौरवगान किया है । वास्तव में कबीर के जीवन से संबंधित जो घटना-प्रसंग कमाल के जीवन-काल में घटित हुए, उन्हें कमाल प्रस्तुत करता है । कबीर-जन्म, कबीर-लोई-प्रेम-प्रसंग, नीमा-मृत्यु इत्यादि प्रसंग लेखक ने स्वयं प्रस्तुत किये हैं । अन्त में उन्हें कबीर की प्राप्ति हो जाती है ---

'वह कैसा नया मनुष्य था, अपराजित, अनिन्द्य, महान् निष्कलंक --।'[21]

कृति में हमारा सीधा साक्षात्कार मात्र 'कबीर ' से ही होता है । उपन्यासकार का लक्ष्य भी कबीर के चरित्र का उद्घाटन मात्र है । कबीर ही उपन्यास का विषय है । कबीर के अद्भुत व्यक्तित्व का उद्घाटन ही लेखक का

उद्देश्य है । किन्तु उपन्यास में वह अकेला पात्र नहीं है , उसके चारों ओर पात्रों की अच्छी-खासी भीड़ है । किन्तु यह भीड़ निष्प्रयोजन ही एकत्रित नहीं हुई इसी से कबीर के चरित्र का निर्माण हुआ है । कबीर दो रूपों में सामने आये हैं एक क्रांतिकारी का रूप जिसमें वे अपने समय की सभी कुरीतियों का विद्रोह करते हैं, दूसरा प्रेमी-रूप। दोनों ही रूप उपन्यास में प्रभावकारी और मार्मिक बन पड़े हैं । यद्यपि उपन्यास का मुख्य केन्द्रबिन्दु कबीर है किन्तु कबीर से ज्यादा लोई का चरित्र अधिक प्रभावकारी बन पड़ा है । लोई के रूप में उपन्यासकार ने भारतीय नारी के आत्मबलिदान की अपूर्व छाया ऊर्जस्वित की है । उसके प्रेयसी, पतिव्रता तथा मातृरूप के सरस उज्ज्वल चित्र सम्पूर्ण उपन्यास में अपना अमिट प्रभाव छोड़ गये हैं । अंतिम अध्याय में लोई की लौ इतनी प्रखर हो उठती है कि कबीर की तस्वीर भी उसके सम्मुख फीकी पड़ने लगती है । वास्तव में कबीर के चरित्र-निर्माण में लोई की भूमिका महत्वपूर्ण है । इसी कारण पुस्तक का नामकरण लोई के आधार पर हुआ है । कमाल चूंकि कथावाचक के रूप में आया है अतस्व कबीर के चरित्र का चित्रण करते समय कमाल की भी कुछ चरित्रगत विशेषताएं उभर आई हैं । शुरू के दो अध्यायों में हमें कमाल में कबीर के विद्रोही रूप के बीज पनपते दीखते हैं । कमाल कबीर के ही आदर्शों का पोषक दिखाया गया है । कमाल ने हरिद्वार के पण्डा से कहा---

"नहीं बाबा । मुझे गद्दी नहीं चाहिए । मेरा बाप गद्दीधारियों के ही खिलाफ तो जन्म-जिन्दगी लड़ता रहा ।"[22]

वास्तव में लेखक की गहरी सहानुभूति के पश्चात भी कमाल का चरित्र ज्यादा नहीं उभर पाया है । इन तीन पात्रों के अतिरिक्त सिकन्दर लोदी, उज्झकनाथ, हरनाथ देवीलाल इत्यादि अन्य अनेक पात्र भी हैं । बहुसंख्यक पात्र होते हुए भी राघव ने व्यर्थ में पात्रों का निर्माण नहीं किया है । सभी पात्र सप्रयोजन आये हैं, मुख्य पात्र कबीर के चरित्र-निर्माण हेतु आये हैं ।

जहां तक उपन्यास के भाषा-शिल्प का सवाल है, यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि उपन्यास की भाषा निर्धारित विषय और पात्रानुकूल

होनी चाहिए । 'लोई का ताना' की भाषा सर्वथा विषय और पात्रानुकूल है । पात्रानुकूल वह कहीं उर्दू मिश्रित, कहीं स्थानीय रंगत लिए हुए, कहीं सहज-सरल बोलचाल के रूप में और कहीं नितान्त परिष्कृत साहित्यिक भाषा के रूप में सामने आई है । डा० राघव ने सर्वत्र पात्र-प्रसंग और भाव-विचारानुकूल शब्द-प्रयोग, उनकी योजना एवं वाक्य-विन्यास की कला में सूक्ष्म कुशलता का परिचय दिया है । शब्दों में प्रसंगानुकूल विविधता भी है । उर्दू, स्थानीय, तत्सम सभी प्रकार के शब्दों काप्रयोग उन्होंने आवश्यकतानुसार किया है :---

उर्दू शब्द :- काफिर, दोजख, कायदा, हुजूर, कायर, मुहलत ।
स्थानीय शब्द:- गिरस्त, अंकटाह, मरघना, पाटी, पट्टी-बुदका
ल्मार, कुलबोरनी, छिया, बीरा, मभुआ, सुन
सच्चर भाखा, सैस, हुल्लड़, बांच, मानुस, घरी
महुओं, गुंजिया, बतासा इत्यादि ।

तत्सम शब्द : डा० राघव संस्कृत के विद्वान हैं अतएव तत्सम शब्दों का समुचित प्रयोग किया है । प्रचलित शब्दों को ही प्रयुक्त किया है जो यथास्थान उपयुक्त प्रतीत होते हैं । भाषा की बोधगम्यता में व्यवधान नहीं आने पाया । तत्सम शब्दावली का ज्यादातर प्रयोग वातावरण चित्रण में ही हुआ है ।

विकृत शब्द : अधिकतर शब्दों को स्थानीय रंग में रंगने के लिए विकृत कर दिया है । जैसे ---

धरम (धर्म), फरक (फर्क), पतिबरता (पतिव्रता), मूरख (मूर्ख), बेदरद (बेदर्द) इत्यादि ।

डा० राघव की भाषा की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि जहां एक ओर संवादों में सीधी-सरल भाषा प्रयुक्त की है, वहां दूसरी ओर चिंतन के क्षणों में अर्थगर्भित और गठी हुई । संवादों में प्रयुक्त आम बोलचाल

की सीधी सरल भाषा के दर्शन उपन्यास के आरंभ में ही हो जाते हैं ---

"मैं कमाल हूं। मेरे बाप का नाम कबीर था और मां का नाम लोई था।"

"तुम क्या करते हो ?"

"काशी में जुलाहे का काम करता हूं।"

"फिर यहां क्यों आए हो ? यह तो हरिद्वार है।"

"जानता हूं, लेकिन क्या करूं ? भटकता फिरता हूं।" [23]

सम्पूर्ण उपन्यास इसी सरल, सहज, आम बोलचाल की भाषा का उदाहरण है किन्तु बीच-बीच में कई स्थल ऐसे भी आये हैं जहां लेखक की भाषा आम बोलचाल की भाषा से हटकर परिष्कृत साहित्यिक भाषा का रूप धारण कर लेती है। ऐसी भाषा के दर्शन अधिकतर उन्हीं स्थलों पर होते हैं जहां कमाल और कबीर के स्वर में कुछ आक्रोश और प्रेरणा की भावना का स्वर सम्मिलित हो गया है। कमाल के आक्रोश को लेखक ने इस प्रकार व्यंजित किया है ---

"--- कल तक तुम मशाल उठाए खड़े थे, तो इन सबका अंधेरा तुम्हारी लंगड़ाइयां लेकर बढ़ती मशाल की लपटों को देखकर कांप रहा था और आज तुम सो गए हो, तो यह समझ रहे हैं कि मशाल धूल में गिर गई है, पर नहीं, ऐ हिन्दू-मुसलमानों! वह मशाल मेरे कबीर के रक्त के स्नेह से भीगी हुई है, वह एक गरीब की इज्जत है, वह नीच जात का बड़प्पन है, वह एक अनपढ़ का ज्ञान है, वह दुतकारे हुए की अपराजित मानवीयता है, उसे तुम तो क्या इतिहास भी नहीं बुझा सकेगा, वह अमर है --- ।" [24]

इसी प्रकार -

"उसने कहा था 'यह देश कुलीन उच्च वर्णों की संस्कृति का ही नहीं है, जिसे ही सब कुछ मान लिया जाए, जिससे अन्याय और पाप को देश भक्ति और धर्म-संस्कृति के नाम पर बचाया जाए।' उसने तो एक नये मनुष्य के लिए नई जमीन तैयार करने की कोशिश की थी। जहां विदेशी का अहंकार और अत्याचार

न हो, जहां उच्च वर्णों का असाम्य और दंभ न हो, जहां मनुष्य के रूप में नीच माने जाने वाले उठें।"[25]

ऐसे प्रयोग उपन्यास में बहुत कम हुए हैं। अधिकांशत: छोटे-छोटे सरल वाक्यांशों में ही कथा निबद्ध है। कहीं-कहीं तो इन छोटे वाक्यों का धारा प्रवाह प्रयोग भी मिलता है ---

"पिता पहले सगुण मानते थे।
"फिर वे रहस्य की ओर झुके।
रहस्य ने शून्य पर पहुंचाया।
शून्य ने साधू बनाया।
साधू बनकर भीख मांगनी पड़ी तो घृणा हो गई।
पेट के लिए इज्ज़त ने पुकारा।
इज्ज़त ने कहा- मेहनत कर।
मेहनत ने ईमान की ओर भेजा।
ईमान ने उन्हें ठोस तार्किक बना दिया।"[26]

सर्वत्र छोटे-छोटे वाक्यों में लेखक ने अपनी बात को बड़ी सफाई से प्रस्तुत किया है। यद्यपि वाक्य छोटे-छोटे हैं किन्तु उनमें भाषाजन्य आवश्यक गुण स्पष्टता और प्रभावोत्पादकता कूट-कूट कर भरी हुई है। यही इसकी कलात्मकता है।

यही नहीं वातावरण और किसी प्रसंग के वर्णन में लेखक की भाषा की चित्रात्मक-शक्ति के भी दर्शन होते हैं। वातावरण चित्रण में लेखक ने छोटे-छोटे वाक्यों का सहारा लिया है। जो हमारे सम्मुख उसका सजीव चित्र अंकित कर देता है। होली के दृश्य का चित्रण एक चित्र की भांति हमारे सामने उद्घाटित हो उठता है ---

"होली आ गई थी। काशी की सड़कों पर आज धुंध-सी मच रही थी।

धूल के अम्बार उठ रहे थे और भांग और शराब के नशे में चूर, अबीर और गुलाल उड़ाते फुण्ड के फुण्ड लोग टोलियां बनाकर गाते, ढोल बजाते, नाचते जा रहे थे । बच्चे रंग फेंकते । औरतें छतों पर बैठी थीं और घूंघट खींचे रंग डालती थीं, नीचे सड़कों पर मर्द नाचते थे । चारों ओर हुड़दंग मच रहा था ।[27] छोटे-छोटे सरल वाक्य हैं किन्तु उनकी सजीवता सराहनीय है । ऐसा लगता है लेखक की लेखनी को कोई श्रम नहीं करना पड़ा है । इसी प्रकार ---

'कुछ देर बाद कबीर खिसक चला ।

उदास-सी छत की मुंडेर के पीछे लोई बैठी-सी रही थी । कबीर स्तब्ध-सा देखता रहा । फिर कहा - 'लोई' ।

उसने मुड़कर देखा । कहा कुछ नहीं । फिर डोरे को मुंह में रखा और उसका छोर बांटने लगी ।

कबीर ने फिर कहा : 'लोई ।'

'क्या है ?'

'तू क्या सोच रही है ?'

'कुछ नहीं ।'

उसका मन आज साधारण नहीं था । कबीर उसके पास बैठ गया । वह खुद सोच में पड़ गया था । उसके माथे पर बल-से पड़ गए थे । उसका मौन देखकर लोई को चिन्ता होने लगी । उसने उसकी ओर न देखकर कहा :'क्या सोच रहे हो ?'---[28]

ऐसा ही भावों के स्वरूप-विधान की क्षमता का एक अन्य सुन्दर चित्र मिलता है ---

'उस दिन शाम हो गई थी ।

मां बड़ी-सी नांद में घड़े से पानी डाल रही थी । उसी समय द्वार पर मैं चिल्लाया : 'मां । देख तो ले दादा आए हैं ।'

मां के हाथ से घड़ा छूट गया ।

मैंने देखा सिर उठाए हुए मुस्कराते हुए मेरे पिता ने कहा-

'फूटा कुंभ जल जलहिं समाना ।'

मां ने लाज से माथा ढंक लिया और मुस्करा उठी ।'[29]

'कबीर रोटी लेकर बाहर हल्की चांदनी में आ गया और खाने लगा । उस समय पीछे किसी की हल्की पगचाप सुनाई दी ।

'कौन ? लोई ? ' कबीर ने कहा- 'इस समय ? जानती है कौन-सा पहर है ?'

वह पतली-दुबली पन्द्रह साल की लड़की अपने मैले लहंगे को समेटकर बैठ गई ।'[30]

डा० राघव ने उपन्यास में परिस्थिति एवं भावों के स्वरूप-विधान तथा चित्रमयता में अद्भुत-कौशल का परिचय दिया है ।

अनेक स्थलों पर व्यंग्य का भी सुन्दर भाषायी विधान हुआ है --

'दादा मेरा ब्याह तय कर रहे हैं । तुम क्यों नहीं अम्मा से कहलवाते ? क्या कहलवा दूं ? ' कबीर ने पूछा -'यही ठीक रहेगा कि हमारे घर में आदमी कम हैं । एक चटनी पीसने वाली चाहिए । ठीक रहेगा ? '[31]

ऐसे स्नेहिल व्यंग्य- विधान के अतिरिक्त तीखे व्यंग्य भी देखने को मिलते हैं :---

'दादा' उसने कहा, 'तुम कहां चले गए थे ?'

कबीर ने मुस्कराकर कहा, ' बेटा, तुझे ढूंढने गया था ।'

अबोध बालक समझ नहीं सका । उसने कहा, 'दादा, झगड़ा क्या हो रहा था ?'

कबीर ने उत्तर दिया, बेटा, आज बस्ती में अंधों के बीच में एक हाथी आ गया था ।'[32]

ऐसे व्यंग्यों की सरस भाषायी झंकार अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर सुनी जा सकती है ।

डा० राघव ने भाषायी अलंकरण पर भी ध्यान दिया है । यद्यपि उपन्यास की भाषा में अलंकार की प्रवृत्ति अधिक नहीं पाई जाती, फिर भी भावुकतावश अभिव्यक्ति में अलंकारिता सम्पूर्णतः न सही आंशिक रूप में तो आ

ही जाया करती है । इस प्रकार का आलंकारिक भाषिक-प्रयोग प्राय: पात्रों की मन:स्थितियों के चित्रण, रसात्मक प्रसंगों, चरित्रों की प्रभविष्णुता को दिखाने, प्रकृति-चित्रण और व्यंग्यात्मकता आदि के प्रसंगों में देखे जा सकते हैं जैसे--

1. "यह तो पाप-पुण्य की हाट लगी हुई है । धरम यहां दण्ड लेकर दरबानी करता है ।"[33]

2. "पुरुष पतंगा है । वह सतगुरु के बिना कहां बचता है, पर नारी तो पैनी छुरी है, वह तो अंग-अंग काट देती है ।"[34]

3. "उस नहाने-धोने से क्या लाभ जो मन का मैल नहीं जाय । पानी में मछली तो सदा ही पड़ी रहती है पर धोने से क्या बास जाती है ।"[35]

4. "प्रेमरस पीने की चाह रखने वाला कभी मान नहीं रख सकता, एक म्यान में दो खड्ग तो साथ-साथ रह ही नहीं सकते ।"[36]

5. "पानी से ही हिम बनती है, हिम ही गलकर पानी बनता है । जो होता है, वही बनता है ।"[37]

6. "अच्छी बात है मां, कबीर ने कहा : "पहले रोटी खा लूं फिर विचार करुंगा । " "तेरी मर्जी, " बुढ़िया ने कुछ खीझकर कहा, जैसे इतनी मेहनत उसने व्यर्थ ही की थी, जैसे वह तो रस्सी सरकाती गई, पर घड़ा पानी नहीं, सूखे कुएं की तह में जाकर टकराया । और वह फिर लेट गई ।"[38]

7. "पूर्ण शांति छा गई । मानो असंख्य मेघों की गर्जना थम गई हो और सब चुप हो गए हों ।"[39]

इस प्रकार अलंकारिकता का मोह न होते हुए भी "लोई का ताना" में इस प्रकार के अनेक प्रयोग देखे जा सकते हैं ।

इसके अतिरिक्त डा० रावत ने मुहावरों, लोकोक्तियों और सूक्तियों का भी यथास्थान प्रयोग किया है । इन साधनों से भी उपन्यास की भाषा की साज-सम्हाल की है । बल्कि यों कहना चाहिए कि अनायास ही प्रयुक्त हुए मुहावरे

लोकोक्तियाँ और सूक्तियों ने लेखक की भाषा में सौन्दर्य - वृद्धि की है ।

मुहावरे : मंत्रमुग्ध से खड़ा रह जाना, फूट-फूट कर रोना, विष अमृत होना ; नाक कटना, आटे-दाल का भाव मालूम होना, मौत सिर पर मंडराना इत्यादि ।

लोकोक्ति : अधजल गगरी छलकत जाय, जैसी करनी वैसी करनी इत्यादि ।

सूक्तियाँ : 'अपनी छोड़कर दूसरों पकड़ने से विष भी अमृत हो जाता है ।'[40]

'वही बड़ा है जिसमें स्वभाव की नम्रता है ।'[41]

'दीन तो वे हैं, जो आत्मा बेचकर पाप से पेट भरते हैं, जो कुछ दिनों के रहने के लिए दूसरों के पेट काटते हैं, गर्व करते हैं ।'[42]

'मेहनत और ईमान की कमाई खाने वाला कभी नहीं मर सकता ।'[43]

'दीन को गर्व नहीं होता ।'[44]

इस प्रकार 'लोई का ताना' में लेखक ने पात्र-प्रसंगानुकूल भाव-विचारानुकूल शब्द-चयन, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, सूक्तियाँ, उनकी योजना एवं वाक्य-विन्यास की कला में सर्वत्र सूक्ष्म कुशलता का परिचय दिया है । लेखक की लेखनी कहीं भी लड़खड़ाती प्रतीत नहीं होती । उनकी लेखनी पात्र, प्रसंग, भाव, विचारानुकूल रूप धारण करती गई है । चाहे छोटे-छोटे संवाद हों या मनोभावों की नियोजना, चाहे करुण, मर्मान्तक दुःखान्त क्षण हों या प्रेमी-प्रेमिका के एकान्तिक सुखद क्षण, चाहे हास्य-विनोद की बौछार हो या आक्रोश की कर्कशता, कहीं भी डा० राघव की लेखनी ने साहस नहीं छोड़ा है । यह लेखक की सिद्धहस्तता का ज्वलन्त प्रतीक है ।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि 'लोई का ताना' एक अभिनव शैली प्रयोग है । इसकी भाषा-शैली अपने विषय के सर्वथा अनुरूप है ।

<u>प्रामाणिकता</u> :- यह तो कृति की भूमिका से ही स्पष्ट हो जाता है कि 'लोई का ताना' में लेखक ने कबीर के सम्पूर्ण जीवन-वृतान्त को, कबीर की साहित्यिक-कृतियों से प्राप्त तथ्यों के आधार पर चित्रित किया है, क्योंकि

कबीर की कोई प्रामाणिक जीवनी उपलब्ध नहीं है । उनका आना-जाना आज भी विडम्बना के धागों से बंधा हुआ है । किन्तु कुछ विद्वानों की खोजों के परिणामस्वरूप कुछ ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध होते हैं, जिनके आधार पर प्रस्तुत कृति की प्रामाणिकता की परीक्षा की जा सकती है ।

कबीरदास के जन्म और मृत्यु की तिथि को लेकर आज भी विवाद बना हुआ है । कोई निश्चित तिथि नहीं मिलती । शायद इसी कारण डा० राघव ने कबीरदास के जन्म और मृत्यु विषयक तिथि-निर्देश नहीं दिया है । इसी प्रकार जन्म-स्थान का भी उल्लेख नहीं किया है । मात्र इतना कहा है कि वे काशी में रहते थे । जन्म-स्थान का नाम नहीं दिया है :--

"एक दिन मैं और तेरा बाप नीरु चले जा रहे थे । रास्ते में एक अनाथ हाल का पैदा हुआ बच्चा पड़ा था । उसे हम उठा लाए और अपना कहकर पाल लिया । बेटा वही तू है ।"[45]

डा० राघव ने भी नीरु और नीमा को कबीर के माता-पिता माना है । कबीर का मृत्यु-स्थान मगहर बताया है । गुरु ग्रंथ साहब में भी कबीर का मृत्यु स्थान मगहर ही बताया गया है ---

"सकल जनम सिवपुरी गंवाइया ।
मरती बार मगहर उठि आइया ।।"

जनश्रुति के माध्यम से कबीर के गुरु रामानन्द थे । डा० राघव ने रामानन्द को ही कबीर का गुरु माना है । कहते हैं कबीर मुसलमान - परिवार में पोषित होने के बावजूद एक वैष्णव-भक्त के समान आचरण करते थे । इस पर ब्राह्मण लोग आपत्ति करते थे । इन बातों से तंग आकर कबीर ने रामानन्द से दीक्षा लेने की बात सोची । किन्तु डा० राघव ने इस जनश्रुति में थोड़ा परिवर्तन कर दिया है । उनके अनुसार कबीर को जब अपनी मां के मुख से अपने जन्म के विषय में पता चला कि वे किसी कुमारी या विधवा की संतान हैं तो इससे दुःखी होकर उन्होंने रामानन्द की शरण ली और उन्हें अपना गुरु माना ।

रामानन्द के शिष्यत्व की घटना का उल्लेख भक्तव्यास अनंतदास कृत 'कबीर साहब की परचई' तथा नाभादास के भक्तमाल में भी मिलता है। डा० राघव ने कबीर का लोई से प्रेम-विवाह माना है। कमाल उनका पुत्र था। 'गुरुग्रन्थ साहब' के एक श्लोक में कमाल को उनका पुत्र माना गया है :---

'बड़ा बंस कबीर का, उपजियो पूतु कमालु।
हरि का सिमरनु छाड़ि कै, धरि ले आया मालु।।'

कुछ विद्वान तो लोई के अतिरिक्त कबीर की एक अन्य पत्नी भी मानते हैं, जिसका नाम धनिया था। एक पुत्री कमाली की भी कल्पना मिलती है। किन्तु डा० राघव ने इन्हें निराधार मानकर इनका उल्लेख नहीं किया है। कबीर गृहस्थ-जीवन अवश्य बिताते थे, किन्तु ऐसा कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं होता जिसके आधार पर उनके वैवाहिक जीवन और संतानों का उल्लेख किया जा सके। इतिहासकारों ने कबीर को जुलाहा-जाति का माना है। डा० राघव ने भी कबीर की जाति जुलाहा बतायी है। कबीर ने अपनी कृतियों में अनेक स्थानों पर अपने को जुलाहा बताया है ---

'हरि के नाउ बिन किन गति पाई,
कहै जुलाह कबीरा।'[46]
'तू बाम्हन मैं कासी का जोलहा, चीन्हि न मोरे गियाना।'[47]
'तू बाम्हन मैं कासी का जुलहा।'[48]
'जैसे जल जलही दुरि मिलियो, त्यों दुरि मिला जुलाहा।'[49]

डा० राघव ने कबीर पर सिकन्दर लोदी के अत्याचार का भी वर्णन किया है। इतिहासकारों ने भी सिकन्दर लोदी को कबीर का समकालीन माना है। इस प्रकार कबीर के जीवन से संबंधित जो भी ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध होते हैं उनके आधार पर 'लोई का ताना' कबीर का प्रामाणिक जीवन-चरित्र प्रस्तुत करता है। लेखक ने रोचकता के लिए कल्पना का भी सहारा लिया है,

किन्तु उनकी कल्पना पंखविहीन कल्पना है, इसी कारण वे ज़मीन पर ही रहे हैं, उड़ान नहीं भरी । इतना अवश्य है कि कबीर की विभिन्न कविताओं को समेटने के लिए, उनके अर्थानुकूल लेखक को अपनी कल्पना से अनेक छोटे-छोटे प्रसंगों की योजना करनी पड़ी है, जिससे उपन्यास रोचक बन पड़ा है । वास्तव में ये अलग-अलग बेतरतीब से पड़े छोटे-छोटे स्मृतिचित्र अपनी पूर्णता नहीं खोते और एक दूसरे के साथ मिलकर एक सही तस्वीर बन जाते हैं ---'कबीर' ।

---00000---

## पाद टिप्पणियां :

1. लौहं का ताना - पृष्ठ 5 भूमिका ।
2. -वही- पृष्ठ 5 ।
3. -वही- पृष्ठ 9 ।
4. -वही- पृष्ठ 12 ।
5. -वही- पृष्ठ 36 ।
6. -वही- पृष्ठ 37 ।
7. -वही- पृष्ठ 87 ।
8. -वही- पृष्ठ 53 ।
9. -वही- पृष्ठ 52-53 ।
10. -वही- पृष्ठ 71 ।
11. -वही- पृष्ठ 72 ।
12. -वही- पृष्ठ 70 ।
13. -वही- पृष्ठ 12 ।
14. -वही- पृष्ठ 12 ।
15. -वही- पृष्ठ 23 ।
16. -वही- पृष्ठ 84 ।
17. -वही- पृष्ठ 37 ।
18. -वही- पृष्ठ 7 ।
19. -वही- पृष्ठ 37 ।
20. -वही- पृष्ठ 85 ।
21. -वही- पृष्ठ 144 ।
22. -वही- पृष्ठ 2 ।
23. -वही- पृष्ठ 9 ।
24. -वही- पृष्ठ 37 ।
25. -वही- पृष्ठ 105 ।
26. -वही- पृष्ठ 112 ।

27. लौहं का ताना - पृष्ठ 77 ।
28. -वही- पृष्ठ 78 ।
29. -वही- पृष्ठ 64 ।
30. -वही- पृष्ठ 74 ।
31. -वही- पृष्ठ 76 ।
32. -वही- पृष्ठ 44 ।
33. -वही- पृष्ठ 27 ।
34. -वही- पृष्ठ 38 ।
35. -वही- पृष्ठ 51 ।
36. -वही- पृष्ठ 56 ।
37. -वही- पृष्ठ 66 ।
38. -वही- पृष्ठ 74 ।
39. -वही- पृष्ठ 31 ।
40. -वही- पृष्ठ 52 ।
41. -वही- पृष्ठ 61 ।
42. -वही- पृष्ठ 61 ।
43. -वही- पृष्ठ 140 ।
44. -वही- पृष्ठ 60 ।
45. -वही- पृष्ठ 132 ।
46. कबीर-ग्रंथावली : पद 85 ।
47. -वही- पृद 118 ।
48. -वही- पद 196 ।
49. -वही- पद 200 ।

## (3) रत्ना की बात

हिन्दी साहित्य के साथ यह बहुत बड़ी विडम्बना रही है कि उसके महान् साहित्यकारों, विशेषकर प्राचीन और मध्यकालीन साहित्यकारों का प्रामाणिक जीवन - चरित्र उपलब्ध नहीं है । विद्यापति और कबीर की ही भाँति तुलसीदास का भी प्रामाणिक जीवन-चरित्र आज भी अनुपलब्ध है । उनके जीवन विषयक अनेक तथ्य मिलते तो हैं किन्तु प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का प्रश्न-चिह्न उनके साथ अभी भी चिपका हुआ है । वैसे उनके जीवन-चरित्र प्रस्तुत करने के अनेक प्रयास हुए हैं जिनमें मुख्य हैं रघुवरदास, वेणीमाधवदास, कृष्णदत्त मिश्र, अविनाश राय और संत तुलसी साहब - किन्तु ये भी प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता की थैरेबन्दी को लांघ नहीं पाये हैं ।

डा० राघव ने 'रत्ना की बात' में तुलसी का जीवन-चरित्र प्रस्तुत करने का एक नवीन प्रयास किया है । नवीनता इस बात में नहीं कि उन्होंने तुलसी के जीवन-विषयक कोई प्रामाणिक तथ्य खोज निकाला हो, वरन् इस बात में है कि उन्होंने तुलसी के सम्पूर्ण जीवन-चरित्र को उपन्यास के रूप में प्रस्तुत किया है ।

'रत्ना की बात' का केन्द्रीय विषय 'तुलसीदास' का जीवन-चरित्र चित्रित करना है । लेखक ने स्वयं भी इस तथ्य को कृति की भूमिका में स्पष्ट कर दिया है ---

'प्रस्तुत पुस्तक में तुलसीदास का जीवन वर्णित है । --- तुलसी एक समर्थ प्रचारक थे । उन्होंने एक धर्मगुरु का काम किया है, इसे मैंने स्पष्ट किया है । तुलसी के लक्ष्य, कार्य, प्रभाव आदि को मैंने विस्तार से लिखा है --- तुलसी के सामाजिक कार्य, उनकी भक्ति, उनके सुधार, उनके विद्रोह, उनके विचार, उनका दृष्टिकोण ऐसे विषय हैं जिन पर लोगों का भिन्न मत है । जो तुलसीदास कहते हैं, हमें वह देखना चाहिए ।'[1]

स्पष्ट है कि तुलसी के चरित्र की खोज ही उपन्यास का विषय है। उपन्यास की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि स्वयं तुलसीदास के माध्यम से ही तुलसी की खोज करवायी गयी है। तुलसीदास मृत्यु-शय्या पर पड़े हैं। उनकी आंखों के सामने उनका सम्पूर्ण जीवन पर्त-दर-पर्त खुलने लगता है। सर्वप्रथम लेखक ने तुलसीदास की मरणासन्न अवस्था का थोड़ा-सा चित्रण किया है। फिर तुलसीदास को मृत्यु-शय्या पर अकेला छोड़ दिया है ---

"सुदूर का अन्धकार निकट आने लगा और जैसे मन बहुत दूर किसी अतलांत अंधेरी गहराई में फिर पटकने लगा, जिसमें कहीं भी प्रकाश दिखाई नहीं देता था।

नारायण आया और चला गया।
तुलसीदास को याद आने लगा।"[2]

जीवन के अंतिम क्षणों में वे अपने सम्पूर्ण जीवन का लेखा-जोखा कर रहे हैं। कैसे जन्म लेते ही उन्हें त्याग दिया गया, नाइन और बुढ़िया द्वारा उनका पालन-पोषण, स्वामी नरहरिदास से शिष्यत्व-ग्रहण, रत्ना से प्रेम-विवाह, रत्ना द्वारा ही प्रताड़ित होकर रामभक्ति में लीन होना और फलस्वरूप साहित्य-सृजन करना इत्यादि अनेक प्रसंग एक के पश्चात एक तुलसी की आंखों के सामने आने लगते हैं। तुलसी न तो "शेखर : एक जीवनी" के नायक शेखर की भांति अपनी जीवनी लिख रहे हैं न "त्यागपत्र" के जस्टिस दयाल की तरह अपनी कहानी लिख चुके हैं, बल्कि वे चिंतन कर रहे हैं। यह तथ्य "रत्ना की बात" के शिल्प को एक विशिष्ट स्तर प्रदान करता है। हम "तुलसी" को कभी वर्तमान में देखते हैं, कभी अतीत में। हम तुलसी के विगत को तुलसी की स्मृति के माध्यम से देखते हैं। तुलसी की स्मृति में उसके अतीत की सभी घटनाएं सम्पूर्ण जीवन-प्रसंग एक-एक कर क्रमानुसार बिजली की कौंध की तरह आते जाते हैं। तुलसी वर्तमान में अपने विगत जीवन के प्रत्येक प्रसंग को पुन: जीते हैं। अतीत से वर्तमान में लौटते हैं किन्तु मात्र शिल्प के निर्वाह के लिए। मोटे तौर पर कहें तो "रत्ना की बात" में प्रत्यावर्तन-प्रविधि (फ्लैशबैक पद्धति) का सहारा लिया गया है

उपन्यास का प्रमुखपात्र तुलसी जिसका सम्पूर्ण जीवन-चरित्र-वृतान्त ही उपन्यास का विषय है, मृत्युशय्या पर पड़ा अपने विगत जीवन का प्रत्यावलोकन करता है :---

'आज यात्री को बहुत कुछ याद आ रहा था। मृत्यु की विकराल छाया आज तक जीवन के पांव पकड़कर चलती रही थी, परन्तु अब ऊपर चढ़ने लगी थी और जैसे बाढ़ का पानी बढ़ता जा रहा था, वह आज उस वृद्ध को अपने भीतर सदा के लिए डुबो लेना चाहती थी।

सुदूर का अन्धकार निकट आने लगा और जैसे मन बहुत दूर किसी अतलांत अंधेरी गहराई में फिर भटकने लगा, जिसमें कहीं प्रकाश दिखाई नहीं देता था।'[3]

इस प्रकार 'रत्ना की बात' तुलसी के स्मृति-पट पर स्वीकृत कालक्रम में अंकित घटना-प्रसंगों का आलेख है।

प्रस्तुत कृति तुलसी का 'अभिन्नतम निजी दस्तावेज' होने के साथ-साथ उसके युग का भी प्रतिबिम्ब है। तुलसी के जीवन का अध्ययन है। परन्तु यह जीवन एक व्यक्ति का जीवन है। समाज या युग का जीवन नहीं है। निस्सन्देह उसमें तुलसी के समाज और युग की अनेक विषमताएं- जातिवैषम्य, राजनैतिक लूटपाट, धार्मिक लबादा ओढ़े मिथ्याडम्बर आदि की गम्भीर समस्याओं का विश्लेषण अत्यन्त सूक्ष्म-गहन रूप में हुआ है। परन्तु उसमें समाज और युग नहीं बोला, तुलसी ही बोले हैं। तुलसी की स्मृति-निधि के अंग रूप में ही युग-चित्रण को भी स्थान मिल गया है। लेखक ने तुलसी के परिवेश और युग का, जिससे उसे संघर्ष करना पड़ता है, बहुत ही यथार्थ और सजीव चित्रण किया है। जिस प्रकार कृति को समझने के लिए कृतिकार की पहचान आवश्यक है, उसी प्रकार कृतिकार को समझने के लिए उसके युग की समझ अनिवार्य है। लेखक ने भूमिका में ही स्पष्ट किया है :---

'तुलसी ने जो प्रगति की, उसे समझने के लिए केवल उन्हें देख लेना काफी नहीं है, उनके पूर्ववर्ती युगों को भी देखना आवश्यक है।'[4]

तुलसीयुगीन समाज की दशा अत्यन्त शोचनीय थी । कबीर के भरसक प्रयासों के बावजूद भी वर्ण-भेद , जाति-भेद, धर्म-भेद विद्यमान था । समाज अनेक जातियों एवं धर्मों में बंटा था । ऊंची-जाति और धर्म के ठेकेदारों के अत्याचारों से निम्न वर्ग त्रस्त था । गंगा-नदी के तट पर संस्कृत के श्लोकों के सुनाई पड़ने पर -

'---अंधेरे ही पथों पर भाड़ू लगा चुकने वाले मेहतर अब वहां से भाग निकले, ताकि अपने दर्शन से वे उच्च-जाति के पवित्र लोगों को प्रात:काल ही अशुभ के सम्मुख न ले जा सकें ।'[5]

समाज में ब्राह्मण-वर्ग का सर्वोपरि स्थान था । उन्हें उच्च-जाति का माना जाता था तथा उनका स्थान देवतुल्य था । बालक ब्राह्मण तुलसी का समाज में घोर अनादर देखकर स्वामी नरहरिदास ने लोगों से कहा ---

'राजापुर और सोरों के निवासियों ! तुमने वेदपुरुष का निरादर किया है । तुमने ईश्वर का अपमान किया है । ब्राह्मण ब्राह्मण ही है । ---इसमें ब्रह्म का तेज है । यह पृथ्वी के देवता का रूप है । यह, यह बालक नहीं है, यह अग्नि है । सनातनकाल से चले आते शासन का यह समर्थ उत्तराधिकारी है । --- यह मुनियों की संतान है, यह साधारण मानव नहीं है । यह ब्राह्मण है । इसकी वंदना करके प्रायश्चित करो, अन्यथा कलि तुम सबका सर्वनाश कर देगा ।'[6]

समाज में वर्ग-भेद अपनी चरमसीमा पर था । इस वर्ग-भेद का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व धर्म के ऊपर था अर्थात् विभिन्न धर्मों के सैद्धान्तिक मतभेदों के दो पाटों के बीच निरीह जनता का शोषण हो रहा था । तुलसीदास ने सामाजिक परिस्थिति को सुधारने के लिए वर्गगत भेदों को दूर करने का प्रयास किया । वे कबीर की भांति वर्णाश्रम-विरोधी नहीं थे, स्वयं ब्राह्मण थे, किन्तु ब्राह्मणों में व्याप्त बुराइयों के घोर निन्दक थे । ब्राह्मणवादी विचारक तुलसीदास वर्णाश्रम के दृढ़ समर्थक थे । इसलिए उस युग में वर्णाश्रम की दुर्दशा देखकर उन्होंने ऐसे आदर्श समाज की कल्पना की ---

"वही समाज बाहिर था जहां ब्राह्मण पूज्य हो, पर जहां वे लोलुप न हों, जो रूढ़ि में अपना अहंकार छिये न बैठे रहे, वरन् वेद, ब्राह्मण और पुराणों आदि की रक्षा के लिए निम्न वर्णों को सहूलियत दें और निम्न वर्ण-भेद और ब्राह्मण को पूज्य मानकर वर्णाश्रम को सिर फुका दें। वह समाज बाहिर था जहां वेद को पूज्य मानने वाले सम्प्रदाय परस्पर लड़े नहीं।"[7]

भारतीय संस्कृति तुलसीदास के लिए अत्यन्त गौरव का स्थान रखती थी किन्तु उनके समय में भारतीय संस्कृति ह्रास की स्थिति में थी। मुगल बादशाह छोटे-मोटे राजा और बड़े-बड़े सभी अधिकारी ऐश्वर्यों में व्यस्त थे। प्रजा के हित का उन्हें ध्यान नहीं था। प्रजा पर नाना प्रकार के अत्याचार होते थे। करों और लगानों के बोझ से जनता दबी हुई थी ---

"एक कह रहा था - क्या करें? कर और बढ़ गया है।"
क्या कहता है तू?
बाल-बच्चों के गले घोंटकर मार दें?
मार दें, किसे परवाह है।
पर ऐसा अन्याय तो पहले कभी नहीं हुआ था ----
मगर यहां तो आए दिन इन ओहदेदारों के हुक्म बढ़ते ही चले जा रहे हैं।"[8]

समाज में धर्म की मर्यादा लुप्त हो चुकी थी। धर्म के प्रति श्रद्धा तो नाममात्र को भी नहीं रही थी ---

"बात यह है महाराज। आजकल जिसके जो मन में आता है, वही हो जाता है। हमारे यहां के नाई भी न्यायी ब्राह्मण हो गए हैं। --- मौका पड़ते ही लोगों को मुसलमान बना लिया जाता है।"[9]

चारों तरफ से समाज पीस रहा था। बड़ी ताकतों के मनमाने अत्याचारों

को सहते-सहते छोटी कमजोर ताकतें जर्जर हो गयी थी ---

"---क्योंकि प्रजा भटक रही है । किसान हल लिए जाता है, धरती तोड़ता है, फसल उगाता है । परन्तु उठा भाग नहीं, उससे वे सब छीन ले जाते हैं । क्योंकि मर्यादा नहीं रही । राजा प्रजा पर मनमानी लूट करता है । कोई रोकने वाला नहीं । जब धर्म का ही बंधन अस्वीकृत कर दिया गया है तब भला चिंता ही किसको रह जाती है । शासक अपनी विलास की भूख में कुमारी कन्याओं का अपहरण करते हैं । राजा पिता नहीं है, वह आज अत्याचार का प्रतीक हो गया है ।"[10]

कबीर युग की अपेक्षा तुलसी के समय में नारियों की स्थिति संतोष-प्रद थी । उस पर भी हल्का-सा प्रकाश पड़ा है । नारी मनुष्य के विकास-पथ में बाधा न होकर सहायिका थी । रत्ना इसके सुन्दर उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की गई है ---

"मैं अर्द्धांगिनी हूं । धर्मपत्नी हूं । मैं स्त्री हूं । तुम पुरुष हो । इतना ही तो मेरा तुम्हारा सम्बन्ध नहीं है ? हमारा तुम्हारा धर्म का भी तो संबंध है । हम-तुम तो गाड़ी के दो पहिए हैं । एक पर दूसरा अटक कर रह जाएगा तो गाड़ी चलेगी कैसे ?"[11]

विवाह जातीय हुआ करते थे । नारियां सामाजिक बंधनों में जकड़ी हुई थी । पुरुषों के पुनर्विवाह का भी संकेत मिलता है । तुलसीयुगीन राजनीतिक स्थिति बड़ी विशृंखल थी । देश की सीमाएं आक्रान्ताओं से आक्रांत थी । हूण मलेच्छ, यवन, हिन्दुओं पर मनमाने अत्याचार करते थे । दस्यु कही जाने वाली इन जातियों का मुंह तोड़ जवाब देने वाला कोई न था ---

"आज मलेच्छों के कारण प्रजा में कलि का अट्टहास हो रहा है और व्यामोह में वे ही पवित्र ब्राह्मण अपने त्रैलोक्य को कंपित करने वाले पराक्रम को भूलकर आज भटक रहे है ?--- शूद्र ब्राह्मण बन रहे हैं, म्लेच्छ धर्मनाश कर रहे हैं ।

चारों ओर वर्णाश्रम का ध्वंस हो रहा है ।"[12]

बाह्य शक्तियां तो अत्याचार कर ही रही थी भीतरी शक्तियां भी स्वार्थ-लिप्त होकर जनता को चूस रही थी । हिन्दू- शासक अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण देश के साथ खिलवाड़ कर रहे थे । तत्कालीन शासकों की गतिविधियों पर प्रकाश डालते हुए स्वामी नरहरिदास ने तुलसी से कहा ---

"हिन्दू राजा अपने प्राचीन गौरव को भूलकर कुत्तोंकी तरह विदेशी के सामने जीभ लटकाये बैठे हैं और पराये हाथों में पड़कर यह बाज अपने ही देश की प्रजा रूपी चिड़ियों का शिकार कर रहे हैं । वे अपने स्वार्थों में पड़कर देश का गौरव भूल गये हैं ।"[13]

दर्शन, धर्म और भक्ति के विभिन्न सम्प्रदाय अपना-अपना राग अलाप रहे थे, एक-दूसरे पर कीचड़ उछाल रहे थे । यह सब देखकर तुलसी की आत्मा चीत्कार कर उठी---

"राम ! राम !! तुम कहां जा रहे हो ?
हे महानायक ! !
वही राज्य लाना होगा
वही राजा राम का शासन लाना होगा ।"[14]

और तुलसी का कवि सजग हो उठा ---

"मैं जनता के कानों में राम का पवित्र जीवन गुंजाऊंगा । उसको सुनकर प्रजा का भय दूर हो जाएगा ।"[15] फलस्वरूप उन्होंने "मानस" के रूप में समन्वयवादी सरस साहित्य की सर्जना की । इस सारे सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक विषमताओं के यथार्थ को लेखक ने तुलसी की जीवन-प्रक्रिया के साथ इतनी कुशलता से बुना गया है कि तुलसी के साथ-साथ उसका युग भी साकार हो गया है । इसके साथ ही "रत्ना की बात" तत्कालीन परिवेश के जीवंत चित्रण के माध्यम से आज के परिवेश को भी उजागर करता है । तुलसी के बचपन की अपमानपूर्ण स्थितियां, नीच जाति की पार्वती द्वारा उनका पालन-

पोषण, सामाजिक, धार्मिक राजनैतिक विषमताओं का साक्षात्कार ऐसी युगीन वास्तविकताएं हैं, जो आज भी मुंह बाए खड़ी हैं ।

जहां तक कृति के शिल्प का प्रश्न है उस रूप में प्रस्तुत कृति शिल्प के बेजोड़ नमूने के रूप में सामने आई है । यह तो स्पष्ट ही है कि 'तुलसी की खोज' को लेकर यह उपन्यास चला है । तुलसी अपने जीवन के अंतिम क्षणों में स्मृतियों का बहिखाता खोले अपने जीवन का लेखा-जोखा कर रहे हैं । उनकी स्मृति-निधि में से घटनाएं क्रमानुसार सुव्यवस्थित रूप से एक के बाद एक निकलकर पाठकों के सम्मुख दृश्यवत् उपस्थित होती गई हैं । पाठक तुलसी के अतीत और वर्तमान के झूले में झूलता हुआ तुलसी से अपना परिचय बढ़ाता जाता है । इस उपन्यास में तुलसी भी उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना वह सामाजिक, धार्मिक राजनैतिक युगीन परिवेश जिससे वह जूझता है । यों उपन्यास में पात्र अनेक हैं उनकी संख्या बहुत है, पर उन सबकी अवस्थिति तुलसी के चरित्र को लेकर ही है । तुलसी स्वयं उपन्यास का सम्पूर्ण विषय है, कोई अन्य व्यक्ति या व्यक्ति-समूह नहीं । उसके पिता आत्माराम दूबे, नाइन, ब्राह्मणी, रत्ना, नरहरि, मलूक नारायण और यहां तक अनंता नाई, वैद्यजी, गंगादयालु, पण्डित, रामेश, विश्वम्भरनाथ इत्यादि सब तुलसी के ही कारण हैं । वे उसके चारों ओर अवस्थित हैं और उसके चरित्र को रूप और दिशा प्रदान करते हैं पर स्वयं में विषय की दृष्टि से सिवाय रत्ना के उनका कोई महत्व नहीं है । तुलसी ही उपन्यास का केन्द्रीय पात्र है । वस्तुत: उपन्यास में पाठक का सीधा साक्षात्कार मात्र तुलसी से ही होता है । तुलसी के चरित्र के दो पहलू हैं--- एक, धर्मप्रवर्तक का रूप दूसरा, प्रेमी रूप । धर्मप्रवर्तक के रूप में तुलसी का चरित्र पर्याप्त आश्वस्तकारी और प्रभावोत्पादक नहीं बन पाया है, पर उसका प्रेमी रूप अधिक विश्वसनीय और मार्मिक बन पड़ा है । तुलसी के धर्म-प्रवक्ता का रूप चाहे जितना भी अविश्वसनीय और प्रभावहीन हो - उसे हम थोड़ी देर के लिए भूल भी जाएं तो उसका प्रेमी रूप अत्यंत प्रौढ़ और कलात्मक रूप में चित्रित हुआ है । उपन्यास में

दूसरा महत्वपूर्ण पात्र है -- रत्ना, जो पाठक के मस्तिष्क में अपनी अमिट छाप छोड़ जाती है । तुलसी के चरित्र-निर्माण में रत्ना की भूमिका महत्वपूर्ण है । वह तुलसी के निर्माण के लिए अपने को पूरी तरह से मिटा देती है । रत्ना की ही प्रेरणा से तुलसी सत्पथ पर अग्रसर होते हैं और तत्पश्चात एक महान कवि, समाजसुधारक, भक्त एवं संस्कृति के महान पोषक हुए ---

"किसने दी यह प्रेरणा ?
रत्ना की बात ने ? रत्ना !
यदि वह न होती तो !"[16]

रत्ना की इसी प्रेरणा के कारण ही लेखक ने उपन्यास का शीर्षक "रत्ना की बात" रखा । रत्ना की यही बात उसके चरित्र को ऊँचा उठा देती है । वह मरकर तुलसी के अस्तित्व का एक अंग बन जाती है ।

यह तो स्पष्ट ही है कि "रत्ना की बात" तुलसी के स्मृति-पटल पर स्वीकृत कालक्रम में अंकित घटना-प्रसंगों का आलेख है । इस प्रसंग में एक यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि तुलसी अपने विगत जीवन का प्रत्यावलोकन करते हुए कुछ ऐसे घटना-प्रसंग भी प्रस्तुत करते हैं, जिन्हें तुलसी ने देखा नहीं है-- जैसे शिशु तुलसी के बचपन के सभी घटना-प्रसंग । बचपन की सभी बातें अपने बूर्यारों के साथ यथावत किसी को याद नहीं रहती, जबकि तुलसी उनका बूर्यारेवार अवलोकन करते दिखाये गये हैं । उदाहरणत: तुलसी अपने जन्म की घटना का वर्णन बूर्यारेवार यथावत क्रम से करते हैं । ये वर्णन यदि उपन्यासकार या उपन्यास के किसी दूसरे पात्र के माध्यम से आया होता तो खटकने वाली बात न होती । लेखक को भी इस आपत्ति से सामना करना पड़ा होगा, शायद इसी कारण उसने तुलसी के बचपन का चित्रण "बालक तुलसी" या "अन्य पुरुष" बनाकर किया है । इसी प्रकार कई अन्य घटनाप्रसंग हैं जिन्हें तुलसी ने स्वयं नहीं जिया किन्तु उपन्यास में जीते दिखाया गया है । वास्तव में इन प्रसंगों से गुज़रते समय हम यह भूल जाते हैं कि यह तुलसी द्वारा प्रत्यावलोकित जीवनी पढ़ रहे हैं । इन प्रसंगों

से कोई फर्क नहीं पड़ता । दूसरी आपत्ति यह उठती है कि इसमें पदों की भरमार है । हिन्दी खड़ी-बोली के पदों तक तो ठीक है, लेकिन संस्कृत के भी कई श्लोक हैं जिनकी व्याख्या नहीं दी गई । हिन्दी के भी कई पद ऐसे हैं जो बिना अर्थ के समझ में नहीं आते । अतएव यह उपन्यास की रोचकता में बाधक सिद्ध हुआ है । यदि इनके अर्थ भी दे दिये जाते तो कृति को हृदयंगम करने में ज्यादा सुविधा होती ।

जहां तक अंकन-कला का संबंध है, लेखक की अंकन-कला अपनी कारीगरी और नक्काशी में हरदम पूरी है । अंकन में अन्विति और अलंकरण दोनों का सौंदर्य विद्यमान है । सर्वप्रथम उपन्यास को पढ़ते समय जो बात ध्यान आकर्षित करती है वह है लेखक की काव्यमयी-शैली । उपन्यास का आरम्भ और बीच में कई स्थल ऐसे आये हैं जहां लेखक की काव्यमयी-शैली के दर्शन होते हैं । उदाहरण के लिए उपन्यास का आरम्भ का भाग देखा जा सकता है :---

"भोर हो गई । पहली किरण ने हल्का-सा आलोक फैलाया, तब पक्षी कलरव निनाद करते हुए आकाश में उड़ चले और काशी के घाटों पर भोर की जगार सुनाई देने लगी । धीरे-धीरे आलोक अन्धकार के साथ जूझते-जूझते तारे की चमक से पर गया और वह गंगा की गंभीर और विस्तृत धारा पर झलझलाने लगा । ---

शीतल पवन मंद-मंद गति से चलकर रात की सारी थकान का हरण कर रहा था, और लहरों के अंगों को जब वह पवन हौले से छू देता तो कंपकंपी-सी मच जाती । वे उधर अपने अंगों को सिकोड़कर अपनी साड़ी लींचकर अपना शरीर ढाक लेने का प्रयत्न करती, इधर यह पवन भी अपने दाह को खोकर बोझिल होने लगता है ।"[17]

"बाहर आकाश के पनघट पर जैसे अप्सराओं के कंकण बजकर चमके और उनके घड़ों से कुछ जल छितरा गया और फुहार-सी झर उठी ।"[18]

लेखक जब पात्र की कोमल मनोभावनाओं की ओर प्रवृत्त होता है, तब उसकी भाषा काव्यमयी हो उठती है । गद्य में काव्य-रस का संचार करने में "राघव" बहुत कुशल हैं । अलंकारों के प्रयोग द्वारा जब "राघव" कोमल मनोभाव के चित्रण अथवा प्राकृतिक छटा के वर्णन की ओर प्रवृत्त होते हैं, तब उनकी भाषा में गद्य और पद्य का अनुपम संयोग दिखायी देने लगता है । पात्रों के मनोभावों को काव्यमयी भाषा में अभिव्यक्त करने में "राघव" सिद्धहस्त हैं । पात्र के मनोभावों की भाँति उसकी अनुभूतियों को चित्रित करने के प्रयास में राघव की भाषा स्वत: ही काव्यमयी हो उठी है :---

"इस सुनसान तूफान के कगार पर लड़खड़ाती साँझ में मेरी रत्नावली ! रत्ना अकेली गई है ।"[19]

अलंकारों के प्रति विशेष मोह न होते हुए भी, उनकी भाषा अनायास ही अलंकृत हो उठी है । कई स्थानों पर लेखक की लेखनी अलंकार-प्रधान हो गई है :

"रत्ना एक शंख थी और तुलसी उसमें बैठा कीड़ा ।"[20]

"बालक तुलसीदास ने उन चरणों पर सिर रखकर पूर्ण भक्ति से प्रणाम किया । आलोक की शरण में जैसे कीचड़ में उगनेवाला पंकज शतदल कमल बनकर मुखरित हो जाता है, वैसे ही वह गुरु के चरणों में विकस उठा था ।"[21]

"परन्तु वह भावना के उद्वेग में कभी-कभी डगमगाते जहाज की भाँति अपने मन को रोकने की चेष्टा करने में लग गया ।"[22]

लेखक की भाषा की एक अन्य विशिष्टता है पात्रानुकूल भाषा-सृष्टि । बालक तुलसी की भाषा तुतलाहट-पूर्ण है :---

"बालक भागा-भागा- "अम्मा" "अम्मा" कहता आया था । किसी बूढ़ी स्त्री ने रोक लिया था ।

"कहाँ जाता है बेटा ?

अम्मा पाच ।"[23]

'पी ले बेटा ', वृद्धा ने मनुहार की थी ।
थोड़ा सा पीकर बालक ने कहा था : बस ।'[24]

'बालक बैठ जाता ।
वृद्धा कहती : रामगुलाम ।
अम्मा जी ।'
वह र, ल को व कहता था । तुतलाता था ।
तू कहां गया था ?
बाहव गया था ।
क्यों ?
वकूल वे गया था ।'[25]

यथास्थान स्थानीय-रंगत का मोह भी लेखक त्याग नहीं पाया है ---

'तभी विश्वम्भरनाथ ने कहा - बच्चा भी तो अपना भाग लेकर आता है पण्डित । उसे अगर परमात्मा जिलाएगा तो उसे भी जिलाएगा जो उसे पालेगी ।'[26]

'क्यों कड़ी बात कहती हो ? अम्मा कहती

कड़ी ।। तू ही पछताएगी किसको । यह तो भंगन कुल का जाया है । इसे तू क्यों ले आई है ?

छि: । बेटी । घमण्ड की बात न करो । कौन किसे ले आने की सकत रखता है । जो कुछ होता है उसकी मर्जी से होता है ।'[27]

भाषा में स्थानीय - रंगत के प्रयोग के कारण स्थान एवं समय के अनुकूल अधिक सजीवता, प्राणवत्ता एवं सस्वरता प्रदान की गई है :---

'अरी लाज कर । ' एक अधेड़ स्त्री ने कहा - 'कैसा कलजुग आया है । लुगाई को शरम नहीं आती कहते । मां-बाप से तो नाता ही नहीं रहा । बृयाहता और रखैल का तो फरक ही नहीं रहा ।'[28]

उपन्यास के ही एक अन्य पात्र नौकर की भाषा अत्यन्त ही चलाऊ रूप धारण कर बैठी है ---

"चौपट कर देता है ये बेटा" यों कहकर नौकर ने कुत्ते की तरह खखारते हुए कहा : "समझे महाराज! उसने फिर स्वर उठाया : "जनम लेते ही माँ को खा गया। उसके बाद बाप मार डाला। और फिर नाइन ने दूध पिलाया तो चट कर गया। एक बुढ़िया ने दया की तो उसे उड़ा दिया। बड़ा पहुँचा हुआ है। सनीचर है सनीचर! जिधर आँखें घुमा दीं उधर ही दुनिया को चक्कर खिला दिया।"[29]

लेखक की लेखनी को भावानुरूप रंग बदलते देर नहीं लगती। भाव, प्रसंगानुकूल भाषा अपना रूप बदलती गई है :---

"उसने कुँए पर जाकर पनहारिन से कहा : मैया पानी पिला दे। "तेरा बाप ही मुझे प्याऊ पर रख गया है।" स्त्री ने चटककर कहा। "पानी पिला दे। भिखारी का बेटा, राजा सा हुक्म! घर में बच्चे भूखे बैठे होंगे। उन्हें रोटी दूं कि तुझे चटाऊं?"[30] पात्रों की मन:स्थिति के अनुसार ही भाषा रूप बदलती गई है :

"राम : राम! अनाथ हो गया लगता है। हममें इतनी ताक तो नहीं कि तेरी मदद कर सके, पर द्वार आया है तो तू भी खाता जा।"[31]

यही नहीं, भाषा के अत्यंत परिष्कृत रूप के भी स्थान-स्थान पर दर्शन होते हैं :---

"ऐसे गा कि तेरा स्वर ही मेरे रोम-रोम में प्रतिध्वनित आलोक बनकर समा जाए और राम महिमा की अनन्त करुणा मुझे अपने-आपमें आत्मसात कर डाले, जब मेरे और मेरे आराध्य के बीच में कोई व्यवधान शेष नहीं रह जाए। ऐसे गा भक्त कि मेरी सत्ता तो मिट जाए परन्तु एक अरूप प्रार्थना-सी कल्प-कल्प तक गूंजा करे और उसमें से दीनदयालु कोदण्डपाणि सीतापति राम के चरणारविन्दों का ही गुणगान उदित होते हुए सूर्य के समान चमका करे।"[32]

लेखक की भाषा की एक अन्य विशिष्टता है विकृत शब्द और उर्दू शब्दों का प्रयोग। विकृत शब्दों में निरदयी (निर्दयी), मरद (मर्द), भाग (भाग्य),

बामन (ब्राह्मण ) इत्यादि अनायास ही प्रयुक्त हो गये हैं, थोपे हुए प्रतीत नहीं होते । उर्दू शब्द भी स्थान-स्थान पर नगीने की भांति चमकते- दिखाई देते हैं --- इत्तला, नुस्खा । रहंस, बर्जी, दस्तखत इत्यादि ।

मुहावरे और सूक्ति भी लेखक की भाषा के एक अंग के रूप में आये हैं :

मुहावरे : ज़मीन पांवों के नीचे से खिसकना, हृदय टुक-टुक होना, फूट-फूट कर रोना, पानी-पानी होना, अपने पांव में आप कुल्हाड़ी मारना, सिर पर मौत खेलना, आंखों के आगे अंधेरा नाचना, हृदय उछलना, काठ मारना, जीभ काटना, दांत पीसना, प्राण फूंकना इत्यादि ।

सूक्ति : "भाग्य बड़ा बलवान है", "जो जैसा बोता है वैसा काटता है"[33]
"सुवर्ण कैसी भी मिट्टी में मिला रहे, किन्तु सोना सोना ही है, मिट्टी मिट्टी ही है ।"[34]

प्रस्तुत कृति में सूक्ति-प्रयोग बहुत कम देखने को मिलता है । मुहावरे लेखक की भाषा के साथ घुल मिल गये हैं, बिन बुलाये मेहमान की तरह भाषा में घुस आये हैं ।

उपन्यास में कुछ-एक नये किन्तु विचित्र प्रयोग भी देखने को मिलते हैं जैसे :---

"पण्डित बाहर आए तो उनके चेहरे पर उदासी को लोगों ने ऐसे जमा हुआ पाया जैसे तम्बू में ऊंट आ गया था । खुशी बेचारी मालिक की तरह ठण्ड में सिकुड़ी हुई एक कोने में बैठी कांप रही थी ।"[35]

ऐसे ही एक - दो स्थलों पर शब्दगत विचित्रता भी देखने को मिलती है जैसे :---

"आकाश में वज्र ठनका"[36]
"तूफान धकधकाता हुआ गरजा"[37]

ऐसे प्रयोग बहुत ही कम आए हैं । ये भी चमत्कार-प्रदर्शन हेतु ही

प्रयोग में लाये गये हैं अन्यथा लेखक की अंकन-कला सर्वत्र स्वच्छ-सरल भाषा का उदाहरण है ।

प्रामाणिकता: जीवनीजन्य प्रामाणिकता की खोज के आधार पर भी प्रस्तुत कृति में तुलसी की जीवन-यात्रा के प्रामाणिक रूप को प्रस्तुत किया गया है । लेखक ने जनश्रुतियों और साहित्यिक कृतियों के आधार पर तुलसी के जीवन को उपन्यास में प्रस्तुत किया है । कृति की भूमिका से ही स्पष्ट है कि :

"उनका जीवन-वृत्त ठीक से नहीं मिलता । जो है वह विद्वानों द्वारा पूर्णतया नहीं माना गया है । वस्तुत: जो उन्होंने अपने बारे में कहा है, जो वाह्य साक्ष्य है, जो दो श्रुतियां हैं, इन सबने मिलकर ही महाकवि का वर्णन पूरा कर सकना सम्भव किया है ।"[38]

तुलसी के जन्मस्थान के संबंध में विद्वानों में एक मत नहीं मिलता । विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत यहां उल्लेखनीय हैं :--

1. पं० चन्द्रवली पाण्डेय ने अपने ग्रन्थ 'तुलसी की जीवन भूमि' में राम की जन्मभूमि अयोध्या को तुलसी का जन्मस्थान माना है- "वस्तुत: अवधपुरी ही तुलसी की जन्मभूमि और अवध ही उनका जन्मदेश है ।"[39]

2. पं० रजनीकान्त शास्त्री के अनुसार तुलसी ने अपने साहित्य में काशी का बहुत वर्णन किया है अतस्व तुलसी का जन्मस्थान काशी है ।

3. विल्सन ने किसी जनश्रुति को आधार बनाकर हाजीपुर को तुलसी का जन्म-स्थान बताया । यह चित्रकूट के समीप है ।

4. गार्सां द तासी ने भी हाजीपुर को तुलसी का जन्म-स्थान बताया है ।

5. एफ० एस० ग्राउज़ ने 'भक्त सिन्धु' के अनुसार मेरठ जिले के

गङ्गेश्वर के निकट हस्तिनापुर को तुलसी की जन्मभूमि माना ।

6. कुछ विद्वानों यथा रामचन्द्रशुक्ल, मिश्रबन्धु, शिवसिंह सेंगर, श्यामसुन्दरदास इत्यादि ने तुलसी का जन्मस्थान राजापुर को माना है । यह उत्तर प्रदेश के बांदा जिले में है यहां सरकार ने एक तुलसी का स्मारक भी बनवाया है ।

तुलसीचरित्र, घटरामायण, मूलगोसाईंचरित के अनुसार तुलसी का जन्म राजापुर में हुआ था । किन्तु इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता संदिग्ध है । घटरामायण तो जनश्रुतियों के आधार पर रचित है । इम्पीरियल गजेटियर में भी जनश्रुतियों को आधार बनाकर यह लिखा है कि राजापुर सोरों के संत तुलसी के द्वारा बसाया गया है । डा० उदयभानुसिंह का कहना सार्थक ही है कि :

"यह बात बड़ी विचित्र है और उलझनपूर्ण है कि सोरों से अदूरवर्ती हाथरस के आसपास तुलसी साहब को यह जनश्रुति सुनने को मिली कि तुलसीदास राजापुर के थे और राजापुर के आसपास की जनश्रुतियों से गजेटियर लेखकों को यह पता चला है कि तुलसी सोरों के थे ।"[40]

पण्डित रामनरेश त्रिपाठी के मत में ---

"अब भी राजापुर और उसके आसपास के गांवों में बहुत से वृद्ध ऐसे मिलते हैं जो राजापुर को तुलसीदास का जन्मस्थान नहीं मानते ।"[41]

-इन तथ्यों से इतना ही स्पष्ट होता है कि तुलसीदास राजापुर में रहे थे । यह स्थान उनका जन्मस्थान था अथवा नहीं - यह सिद्ध नहीं हो पाया है । शिवनन्दन सहाय ने ग्रियर्सन, सीतारामशरण, भगवान प्रसाद की भक्तमाल टीका के आधार पर तारी को तुलसी का जन्मस्थान माना । उनके अनुसार राजापुर से पांच-छः कोस दूर यमुना के तट पर तारी है । परन्तु डा० रामदत्त भारद्वाज के अनुसार यह तारी नहीं ताड़ी है । असली तारी एटा जिले में सोरों से कुछ दूर गंगातट पर है जो तुलसी की नहीं, उनकी माता हुलसी की जन्मभूमि है ।

डा० भारद्वाज ने 'कवितावली' (7।47) एवं विनयपत्रिका (135।1) की उक्तियों के आधार पर गंगातटवर्ती सोरों से लगभग दो मील दूर रामपुर को तुलसी का जन्मस्थान माना है । परन्तु डा० उदयभानुसिंह के अनुसार :

'रामधाम, निजधाम, मनधाम आदि की भांति ही रामपुर को अर्थ भी वैकुण्ठ है ।'

पं० रामनरेश त्रिपाठी के अनुसार :---

'सोरों जाकर मुझे निश्चय हो गया कि तुलसीदास का जन्मस्थान सोरों ही है ।'

सोरों से संबंधित सामग्री विशाल परिमाण में एकत्र है । इसमें बहिस्साक्ष्य और अन्तस्साक्ष्य, प्रथम में सोरों-सामग्री तथा सोरों-इतर सामग्री तथा द्वितीय में कवि के आत्मकथात्मक तथा कवि की कृतियों से प्राप्तागत वैशिष्ट्य को देखा जा सकता है । सूकर-क्षेत्रमाहात्म्य भाषा, मुरलीधर के छप्पय, रत्नावली चरित दोहा रत्नावली, भ्रमरगीत की पुष्पिका, वर्णफल, सेवाराम की टीका, मानस के बाल तथा अरण्यकाल तथा तुलसी-प्रकाश के आधार पर तुलसी का जन्म-स्थल सोरों ही है । पं० रामनरेश त्रिपाठी, डा० दीन दयाल गुप्त , डा० रामदत्त भारद्वाज, डा० राजाराम रस्तोगी इत्यादि सोरों सामग्री को प्रामाणिक मानते हैं तथा सोरों या सूकरखेत को तुलसी का जन्मस्थान । पं० चन्द्रबली पाण्डेय, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० भगवतीप्रसाद सिंह सोरों-सामग्री पर सन्देह करते हैं । डा० माता प्रसाद गुप्त सोरों-सामग्री को अप्रामाणिक तथा कवि के आत्मोल्लेखों के प्रतिकूल मानते हैं । डा० भारद्वाज का कथन है कि :

'यदि सोरों-सामग्री न होती, तो भी तुलसीदास जी के जन्मस्थान आदि के विषय में हमारा निष्कर्ष बहुल-सामग्री के आधार पर, सोरोंपरक ही होता । सोरों-सामग्री विशाल है और वैज्ञानिक परीक्षण से प्रामाणिक भी ।'

'सोरों पक्ष भी राजापुर की तरह उपेक्षणीय नहीं है । डा० राघव ने

इसी कारण राजापुर और सोरों दोनों का उल्लेख किया है ।

अन्तस्साक्ष्यों और बहिस्साक्ष्यों के आधार पर तुलसी की जाति ब्राह्मण है । सोरों सामग्री के आधार पर तुलसी की माता का नाम हुलसी तथा पिता का नाम आत्माराम शुक्ल था । राजापुर सामग्री के अनुसार आत्माराम दुबे था । रघुवरदास ने मुरारी मिश्र नाम दिया है । डा० राघव ने आत्माराम दुबे माना है ।

तुलसीचरित में तुलसी को सुखमय बचपन का उल्लेख मिलता है, परन्तु इस प्रसंग में यह तथा अन्य ग्रन्थ अप्रामाणिक है । कवितावली तथा विनयपत्रिका से ज्ञात होता है कि बचपन में ही तुलसी माता-पिता के सुख से वंचित हो गये थे । सम्भवत: माता-पिता ने उन्हें त्याग दिया था ---

'मातु - पिता जग जाय तज्यो विधिहू न लिखी कछु भाल - भलाई ।'[41]

माता-पिता द्वारा तुलसी के त्याग की कथा तुलसी-चरितात्मक विभिन्न ग्रन्थों में भी प्राप्त होती है । तुलसी के आत्मचरितात्मक कथनों में भी उनके दीन-हीन बचपन का वर्णन मिलता है :---

'बारें ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन ।'[42]

'राम नाम लेत मांगि खात टूक टाक हौं ।'[43]

विभिन्न विद्वानों ने तुलसी के गुरु के लिए राघवानन्द जगन्नाथदास, शेष सनातन नरसिंह, नरहरि इत्यादि विभिन्न नाम सुझाये हैं । इनमें से सर्वाधिक प्रतिष्ठा नरहरि को प्राप्त हुई ।

समस्त जनश्रुतियां तुलसीदास का विवाह, उनकी पत्नी में आसक्ति तथा उसके उपदेश से विरक्ति की पुष्टि करती हैं । परन्तु कवि की कृतियों से स्पष्ट कुछ भी ज्ञात नहीं होता । 'भक्ति रसबोधिनी' से ज्ञात होता है कि तुलसी की पत्नी बिना पूछे नैहर चली गई और तुलसी भी असीम आसक्तिवश रात में ही पत्नी के पास जा पहुंचे । विभिन्न ग्रन्थों में ये ही तथ्य मिलते हैं ।

तुलसी की मृत्यु काशी में हुई थी । इस प्रकार डा० राघव ने तुलसी के सम्बन्ध में प्राप्त होने वाले अन्तसाक्ष्य बहिस्साक्ष्यों तथा जनश्रुतियों के आधार पर उनका प्रामाणिक जीवन-चरित्र प्रस्तुत किया है । लेखक का उपन्यासकार का रूप उसकी प्रामाणिकता पर हावी नहीं हुआ । उसके उपन्यासकार ने प्रामाणिक तथ्यों की अन्त तक रक्षा की है ।

'रत्ना की बात ' और 'मानस का हंस ':-- तुलसी के ही जीवन-चरित्र पर आधारित अमृतलाल नागर का 'मानस का हंस ' जीवनीपरक उपन्यासों की परम्परा का एक सुदृढ़ स्तम्भ है । अतस्व यहां 'मानस का हंस' और 'रत्ना की बात ' की तुलना प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा ।

अमृतलाल नागर रचित 'मानस का हंस ' और डा० राघव कृत 'रत्ना की बात ' एक का विशाल कलेवर , दूसरा लघु कलेवर - दोनों का ही आधार तुलसी का सम्पूर्ण जीवन-वृतान्त प्रस्तुत करना है । दोनों लेखकों ने तुलसी की साहित्यिक-कृतियों से प्राप्त तथ्यों के आधार पर ही तुलसी के जीवन-चरित्र को उपन्यस्त किया है । दोनों का विषय समान है किन्तु विषय-प्रस्तुतीकरण एवं टैकनीक भिन्न है ।

नागर जी ने जहां प्रेमचन्दीय किस्सागोई शैली अपनाई है वहां दूसरी ओर , डा० राघव ने एक नया शिल्प-प्रयोग पूर्वदीप्ति-शैली को अपनाया है । टैकनीक की दृष्टि से दोनों उपन्यास 'विशिष्ट प्रयोग ' के रूप में सामने आये हैं । भाषागत सजगता या अंकन कला की दृष्टि से 'मानस का हंस ' सर्वश्रेष्ठ बन पड़ा है । 'मानस का हंस ' के जितने पात्र हैं, उतनी ही बोलियां हैं । पात्रानुसार स्थानीय-बोली का बहुतायत से प्रयोग किया है । किन्तु 'रत्ना की बात ' की भाषा कुछेक स्थलों को छोड़कर सर्वथा सरस है । परिवेशगत व्यर्थता को दोनों ने उभारा है, किन्तु 'मानस का हंस ' में समाज और धर्म की विकृत वास्तविकताओं का साक्षात्कार जितनी तीव्रता से और उनकी चोट जितनी गहरी व्यक्त हुई है वैसी 'रत्ना की बात ' में नहीं । 'मानस का हंस'

में लेखक की कल्पनाशक्ति ने खूब पंख फैलाये हैं। कई घटना-प्रसंग और पात्र काल्पनिक हैं। किन्तु 'रत्ना की बात' में लेखक की कल्पना पंख बांधे खड़ी रही है।

दोनों उपन्यासों में मात्र टैकनीक की दृष्टि से अन्तर है। किन्तु जिस उद्देश्य को लेकर दोनों कृतियां रची गयी हैं, उनमें दोनों समान हैं। इन दोनों के माध्यम से तुलसी का सम्पूर्ण जीवन-वृतान्त हमारे सम्मुख उजागर हो उठा है। लेकिन जहां तक कृति की प्रभावन्विति का प्रश्न है तो कहा जा सकता है कि रत्ना की बात जितनी नागर जी की कृति में बन पाई है उतनी डा० राघव की कृति में नहीं।

—00000—

## पाद टिप्पणियां :

1. रत्ना की बात पृष्ठ- भूमिका ।
2. -वही- पृष्ठ- 21 ।
3. -वही- पृष्ठ-21 ।
4. -वही- पृष्ठ- 6 ।
5. -वही- पृष्ठ- 10 ।
6. -वही- पृष्ठ- 46 ।
7. -वही- पृष्ठ- 161 ।
8. -वही- पृष्ठ- 128 ।
9. -वही- पृष्ठ- 129 ।
10. -वही- पृष्ठ- 141 ।
11. -वही- पृष्ठ- 97 ।
12. -वही- पृष्ठ- 98 ।
13. -वही- पृष्ठ-48 ।
14. -वही- पृष्ठ- 63 ।
15. -वही- पृष्ठ- 142 ।
16. -वही- पृष्ठ- 144 ।
17. -वही- पृष्ठ- 12-13 ।
18. -वही- पृष्ठ- 111-112 ।
19. -वही- पृष्ठ- 111 ।
20. -वही- पृष्ठ- 100 ।
21. -वही- पृष्ठ- 60 ।
22. -वही- पृष्ठ- 19 ।
23. -वही- पृष्ठ- 32 ।
24. -वही- पृष्ठ- 34 ।
25. -वही- पृष्ठ- 35 ।
26. -वही- पृष्ठ- 23 ।
27. -वही- पृष्ठ- 35 ।

28. रत्ना की बात पृष्ठ 101 ।
29. -वही- पृष्ठ 37 ।
30. -वही- पृष्ठ 38 ।
31. -वही- पृष्ठ 38 ।
32. -वही- पृष्ठ 57 ।
33. -वही- पृष्ठ 25 ।
34. -वही- पृष्ठ 51 ।
35. -वही- पृष्ठ 7 ।
36. -वही- पृष्ठ 116 ।
37. -वही- पृष्ठ 117 ।
38. -वही- पृष्ठ 5 ।
39. तुलसी की जन्मभूमि, चन्द्रबली पाण्डेय पृष्ठ 160 ।
40. तुलसी काव्य मीमांसा-उदय भानु सिंह पृष्ठ 161-62 ।
41. कवितावली - पद संख्या 7।57 ।
42. कवितावली-पद संख्या 7।73 ।
43. हनुमान बाहुक - पद संख्या - 10 ।

## (4) मेरी भवबाधा हरो

प्रस्तुत कृति में डा० राघव ने प्रसिद्ध रीतिकालीन कवि बिहारी के सम्पूर्ण जीवन को उपन्यास के रूप में प्रस्तुत किया है । जन्म से लेकर वृद्धावस्था तक की सम्पूर्ण घटनाओं के माध्यम से कथानक का ढांचा निर्मित हुआ है । कवि की मृत्यु का उल्लेख लेखक ने नहीं किया है । मृत्यु से पूर्व के सम्पूर्ण जीवन को पांच भागों में बांटा है । इन पांच भागों को भी अलग-अलग खण्डों के माध्यम से विभाजित किया गया है, जिनमें बिहारी के जीवन से संबंधित मुख्य घटनाओं को स्थान मिला है । अध्याय एक के आरम्भ में ही लेखक ने बिहारी के जन्म-स्थान और उनके पिता का परिचय दे दिया है । बिहारी का जन्म ग्वालियर में हुआ था । लेखक ने जन्म-तिथि का उल्लेख नहीं किया है । उनके पिता का नाम केशवराय था । वे विद्वान कवि थे । आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण वे ग्वालियर छोड़कर ओरछा जाकर बस गये थे :

"क्योंकि कुल - परम्परा का गौरव साधने की अर्थ शक्ति वहां बच नहीं रही थी ।"[1]

इससे स्पष्ट है कि बिहारी की किशोरावस्था दरिद्रता में विकसित हुई थी । केशवराय ज्योतिष के ज्ञाता थे । ज्योतिष-विद्या के माध्यम से उन्होंने यह जान लिया था कि

"बिहारी वंश पालकर प्रमाणित होगा । लक्ष्मी और सरस्वती दोनों हाथ बांधकर इसके सामने खड़ी होंगी ।"[2]

जो कि अन्त में सत्य प्रमाणित हुई थी । बिहारी बचपन से ही संगीत-प्रेमी थे ---

"एक स्यादा गा रहा था 'प्रभु ! मेरे अवगुन चित न धरो ! --- बिहारी दूध पी नहीं रहा था, उस गीत को तल्लीन होकर सुन रहा था ।"[3]

इसी अध्याय के दूसरे खण्ड में लेखक ने रीतिकाल के आचार्य कवि केशवदास का उल्लेख किया है । केशवदास बिहारी के पिता केशवराय के परम

मित्र थे । अतएव केशवदास के वरद हस्त ने बिहारी को बहुत ज्ञान दिया । बिहारी ने केशवदास को अपना गुरु मान लिया ---

"मैं । महाकवि केशवदास का शिष्य बन आया हूं मां । बिहारी का गर्व से भरा स्वर गूंज उठा ।"[4]

लेखक ने केशवदास को तुलसीदास के समकक्ष रखने का सराहनीय प्रयास किया है :---

"तुलसीदास भक्त हैं गोसाईं । क्या वे सचमुच कवि हैं ? उनमें वाणी का वह सौष्ठव कहां ?"[5]

केशव और उनके काव्य की 'कठिन काव्य का प्रेत' कहकर जो इतनी आलोचना हुई, लेखक ने स्वयं केशव के माध्यम से उनका खण्डन किया है ।

"काव्य को कौन समझता है । ब्रज प्रदेश से यह सम्वाद आया है कि केशव ने राम के लिए 'रितवन उलूक ज्यों' लिखकर अन्याय किया है । काव्य का सौन्दर्य समझते हैं वे लोग ? मैंने संस्कृत साहित्य की महान काव्य-परम्परा को मथकर भाषा को एक महान् ग्रन्थ दिया है, परन्तु उसे देखता कौन है ? आचार्यत्व समझने वाले हैं ही कितने ? सूर और तुलसी - हां, भावपक्ष ठीक है, परन्तु ग्राम्यत्व कितना है इनके काव्य में ।"[6]

"मैंने काव्य का फिर उद्धार किया है प्रवीण । आज नहीं तो कल लोग देखेंगे कि लोक केशव के काव्यत्व को पहचानेगा । मैंने काव्य लिखा है, तुलसीदास ने पुराण लिखा है पुराण ।"[7]

बिहारी ने बचपन से ही लगभग पांच वर्ष की अवस्था से काव्य आरम्भ कर दिया था । छोटी-सी अवस्था में ही उन्होंने लघु-कौमुदी, अमरकोष और पाणिनी के सूत्रों का अध्ययन कर लिया था । तीसरे खण्ड में लेखक ने केशवदास के जीवन का भी कुछ अंश उद्घाटित किया है क्योंकि बिहारी उनके शिष्य थे अतएव यह आवश्यक भी था । प्रवीण राय वेश्या से उनका संबंध था ---

"महाकवि केशव की इस वेश्या को देखकर बड़े-बड़े राजा-महाराजा

केशव से जल उठते थे ।"[8]

प्रवीणराय से ही बिहारी ने संगीत सीखा था ---

"कविराइ । बिहारी को आप काव्य का रस पिला रहे हैं, मैं इसे संगीत की शिक्षा दूंगी ।"[9]

चौथे खण्ड में बिहारी की माता की मृत्यु के साथ-साथ अकबर और केशवदास की मृत्यु का उल्लेख मिलता है । इस प्रकार अध्याय एक के चार खण्डों में लेखक ने बिहारी के आरंभिक जीवन की कुछ घटनाओं का सजीव चित्रण किया है । अध्याय दो के पहले खण्ड में बिहारी की माता तथा गुरु केशवदास की मृत्यु के पश्चात केशवराय ओरछा से व्रज आ गए थे । जहां स्वामी नरहरिदास से बिहारी ने दीक्षा प्राप्त की और काव्य-रचना आरम्भ कर दी । मथुरा में उनका सुशीला से विवाह सम्पन्न हुआ । यहीं बिहारी के एक दोहे (अति अगाध, अति औथरी---) से प्रभावित होकर केशवराय ने सन्यास ले लिया । आश्रयहीन होकर बिहारी मथुरा में अपनी ससुराल में आकर रहने लगे । दूसरे खण्ड में एक ही घटना उल्लेखनीय है वह है स्वामी नरहरिदास द्वारा मार्ग-निर्देशन :---

"राजा आते हैं मिट जाते हैं । धर्म ही स्थायी है । धर्म में भी भक्ति । कृष्ण और राधा की उपासना कर । राधा ही तेरी रक्षा करेंगी । काव्य और संगीत सबको नहीं मिलते ।"[10]

तीसरे खण्ड में बिहारी अपनी ससुराल में आकर रहने लगे - उस समय का चित्रण है । ससुराल में उनका उचित आदर-सम्मान नहीं होता था । इसका बहुत ही अच्छा चित्रण लेखक ने किया है :---

"सब बर्तन तुम्हीं मांजती हो ?

"वह हंस दी । बोली, "तो क्या हुआ । आज से थोड़े ही, तीन महीने हो गए । आखिर इनके घर रहते हैं और खाते हैं तो कुछ सेवा भी तो करना चाहिए कि उन्हें हमारी मौजूदगी अखरे नहीं ।"[11]

चौथे खण्ड में बिहारीयुगीन सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियों का चित्रण मिलता है । इनका प्रभाव बिहारी पर भी पड़ा फलस्वरूप उनकी कविता भी उसी रंग में रंग गई । लेखक ने यहां बिहारी के उन दोहों को भी उद्धृत किया है जिनमें तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक स्थिति का कवि ने सजीव चित्रण किया है । तीसरे अध्याय में बिहारी का नरहरिदास के सहयोग से शाहज़ादा खुर्रम के आश्रय में आना, मुगल दरबार का कवि बनने से नवाब अब्दुर्रहीम खां खानखाना के आश्रय-ग्रहण का वर्णन मिलता है । खानखाना की दानशीलता का भी चित्रण देखने को मिलता है । चौथे खण्ड में शाहजादा खुर्रम की बेगम अर्जुमन्दबानू के पुत्र-जन्म के उत्सव का सजीव चित्रण मिलता है । भेंटस्वरूप बिहारी को चन्द्रकला वेश्या मिली । साथ ही बिहारी के राजा जसवन्तसिंह से सम्मान पाने का भी उल्लेख मिलता है । बिहारी को अपनी शृंगारिक कविताओं के बल पर ही इतना मान-सम्मान मिला क्योंकि राजाओं की रुचि शृंगार की ओर ही अधिक थी । रूप और यौवन के चित्रण में ही उन्हें आनन्द मिलता था ---

"जीवन भोग था, विलास था । और जीवन में था ही क्या, जिस पर सच्ची कविता बन पाती । वह रुप और यौवन उडेलने लगा ।"[12]

चौथे अध्याय के पहले खण्ड में राजनैतिक स्थिति बिगड़ जाने से बिहारी का आगरा से पुन: मथुरा में जा बसने और वहीं निरंजन कृष्ण को गोद लेने की घटना को स्थान मिला है । दूसरे खण्ड में गुजरात में होने वाले अकाल के फलस्वरूप उत्पन्न शोचनीय स्थिति का उल्लेख किया है :---

"उसने लोगों की आखें धंसा दी थी, बाप बच्चे को खा गया था । हाहाकार और चीत्कार से गुजरात की धरती रो उठी थी ।"[13]

तत्पश्चात शाहजादे शाहजहां (खुर्रम ) के विजयी होने पर बिहारी के पुन: आगरे में शाहजहां के आश्रय पाने की घटना का उल्लेख मिलता है । तीसरे खण्ड में बिहारी ने जोधपुर में राजा जयसिंह के आश्रय में उनके सहयोग से "अलंकार

ग्रन्थ के निर्माण करने का उल्लेख मिलता है । अध्याय पांच के प्रथम खण्ड में जयसिंह के ऐश्वर्य में मस्त होने और बिहारी द्वारा उनको अपने एक दोहे के माध्यम से जगाने की घटना का विस्तृत और सजीव वर्णन मिलता है । दूसरे खण्ड में बिहारी की पत्नी सुशीला के बिमार होने तथा फलस्वरूप बिहारी की मन:स्थिति का सजीव चित्रण मिलता है । तीसरे खण्ड में सुशीला की मृत्यु के फलस्वरूप बिहारी की मनोवृत्ति में परिवर्तन, श्रृंगार-प्रधान कविता का रुझान राधा-भक्ति की ओर होने के साथ ही कृति की समाप्ति हो जाती है । इस प्रकार इन पांच अध्यायों में बिहारी के सम्पूर्ण जीवन-वृतान्त को लेखक ने अत्यन्त सजीव रूप में प्रस्तुत किया है ।

यहां उल्लेखनीय तथ्य यह है कि लेखक ने बिहारी के व्यक्तित्व-विधायक तत्वों का विश्लेषण उसके युगीन सन्दर्भों के साथ किया है । वास्तव में किसी साहित्यकार के व्यक्तित्व-निर्माण में उसके युग का महत्वपूर्ण योगदान होता है । अतस्व प्रस्तुत कृति बिहारी के साथ-साथ बिहारी युगीन वातावरण की भी झांकी प्रस्तुत करती है । कबीर, तुलसी के युग की ही भांति बिहारी का समाज भी अनेक भेदभावों से जकड़ा हुआ था । तुलसी के पश्चात तो ब्राह्मण और भी पूजनीय हो गये । हिन्दुओं के अतिरिक्त मुगलों में भी ब्राह्मणों के प्रति अत्यन्त सम्मान था । ब्राह्मण इसीलिए मुगलों से प्रसन्न थे । राजाओं के साथ उठना-बैठना होने के कारण ब्राह्मण भी विलासी-जीवन व्यतीत करते थे । बिहारी स्वयं इसके उदाहरण थे । कृति में उनका संबंध चन्द्रकला नामक वेश्या से दर्शाया गया है जो हमारे इसी तथ्य की पुष्टि करता है । एक ओर जहां इतना राजसी ठाठ-बाठ था तो दूसरी ओर समाज का एक गरीब वर्ग था जो इन राजाओं की विलासिता के अत्याचार सह रहा था :---

'दरबार में अखण्ड विलास होता-हिन्दू हो या मुसलमान , स्त्री का रूप बिसरा पड़ा था । ललित कलायें नारी के सौन्दर्य में सीमित हो चली थीं मुगल खजाने से तनख्वाएं देने के बजाय अब जागीरें देने की प्रथा बढ़ गयी । खालसा भूमि की आय घट गयी, सर्वा बढ़ गया और इसका बोझ टूटा किसानों पर ।'[14]

वह युग चूंकि विलासिता का युग था अतस्व नारी मात्र 'भोग्या' बनकर रह गई थी । नारी का माता, बहिन, पुत्री का रूप समाप्त हो गया था :---

"पातिव्रत की खाट में वासना के खटमल पल रहे थे ।"[15]

तुलसी ने धर्म के क्षेत्र में जो समत्व की भावना पैदा की थी और समाज में राम-राज्य लाने की चेष्टा की थी वह बिहारी के समय में छिन्न-भिन्न हो गयी । ईश्वर मात्र शृंगार का विषय बनकर रह गये थे । आराध्य कृष्ण को अश्लील शृंगार के क्षेत्र में खदेड़ा जा रहा था । कृष्ण की अपेक्षा राधा की भक्ति अधिक होती थी । धर्म अंधविश्वासों और आडम्बरों का दूसरा नाम बनकर रह गया था क्योंकि बिहारी का संबंध अकबर, जहांगीर शाहजहां एवं औरंगजेब से था अतस्व स्थान-स्थान पर राजनीतिक वातावरण की झलक भी विद्यमान है । राजा-महाराजा सभी विलासी जीवन व्यतीत करते थे । शासन की ओर उनका ध्यान नहीं था । राजपूतों का जीवन मुगलों के संकेतों पर चलता था । बिहारी भी इस स्थिति को भांप गये थे इसी कारण उन्होंने राजा जसवन्तसिंह को पत्र लिखा था । वास्तव में लेखक को बिहारी के युग की सही पकड़ है यही कारण है कि वे बिहारी के साथ-साथ उसके युग का इतना सजीव चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ हुए हैं । उपन्यास में हमारा सीधा साक्षात्कार मात्र 'बिहारी' से ही होता है । उपन्यासकार का लक्ष्य भी 'बिहारी' के चरित्र का उद्घाटन मात्र है । बिहारी ही उपन्यास का विषय है । किन्तु उपन्यास में वह अकेला पात्र नहीं है उसके चारों ओर पात्रों की अच्छी खासी भीड़ है । किन्तु यह भीड़ निष्प्रयोजन ही एकत्रित नहीं हुई । इसी से बिहारी के चरित्र का निर्माण हुआ है ।

जहां तक कृति की अंकन-कला का प्रश्न है, प्रस्तुत कृति में बिहारी का सम्पूर्ण जीवन-वृतान्त प्रेमचन्दीय किस्सागोई शैली में वर्णित किया गया है । बीच-बीच में संवादों का प्रयोग सम्यक रूप से हुआ है । पात्रों के परस्पर वार्तालाप से कथा को आगे बढ़ाने, घटना या प्रसंग को स्पष्ट करने में लेखक को

अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है । संवाद आवश्यकतानुसार कहीं लम्बे, कहीं छोटे बन पड़े हैं । अधिकांशत: संवाद छोटे, आवश्यकतानुकूल, पात्र-प्रसंगानुकूल एवं सोद्देश्य बन पड़े हैं । इन संवादों में जो मुख्य बात उभरती है वह यह कि इन्हीं के मध्य बिहारी के पदों को, बिहारी के ही मुख्या से, परिस्थिति के अनुसार प्रस्तुत किया गया है । इस दृष्टि से यह उपन्यास अत्यन्त सफल बन पड़ा है ।

जहां तक कृति की भाषा का सवाल है वह सर्वगुण-सम्पन्न है । डा० राघव ने सर्वत्र पात्र-प्रसंग और भावविचारानुकूल शब्द प्रयोग, उनकी योजना एवं वाक्य-विन्यास कला में सुक्ष्म कुशलता का परिचय दिया है । शब्दों में प्रसंगानुकूल विविधता भी है । उर्दू, एवं स्थानीय शब्दों को आवश्यकतानुसार प्रयोग में लाया गया है ।

उर्दू शब्द : इफला, नफासत, रईस, महकमा, जिस्म, अर्ज, इजाजत तोहफा, मातम, जश्न, खिताब, खातिर, कोर्निश, अफसरान, अदब इत्यादि ।

स्थानीय शब्द : असीस, पालागन, जू (जी), भइया, हिया, ठाक, पुवा, कृपालु, रोंधा-राखा, लिवाके, चेतेंगे इत्यादि ।

विकृत शब्द : अधिकतर शब्दों को स्थानीय रंग में रंगने के लिए विकृत कर दिया है ---

बरस (वर्ष), उमर (उम्र), शरमाना (शर्माना), तुरक (तुर्क), पुन्नात्मा (पुण्यात्मा) आकास (आकाश) । तीरथ (तीर्थ) इत्यादि ।

डा० राघव की भाषा की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि सम्पूर्ण उपन्यास में सीधी-सरल भाषा प्रयुक्त की गई है । बीच-बीच में कई स्थल ऐसे भी आये हैं जहां लेखक की भाषा आम बोलचाल की भाषा से हटकर

काव्यपूर्ण हो उठी है । ऐसी भाषा के दर्शन अधिकतर उन्हीं स्थलों पर होते हैं जहां लेखक ने वातावरण एवं परिस्थिति का चित्रण किया है । उदाहरणत:---

'नीले आकाश में पक्षी दल के दल लौट चले । मटमैली छाया पहले छितराए बादलों में कसमसाती रही, फिर बैलों के गलों में लटकी घंटियों की गूंजती आवाज में मिलकर उड़ती हुई धूल पर लौटने लगी ।'[16] स्थान-स्थान पर लेखक की शैली वर्णनात्मक भी हो उठी है :---

'नौकर काम-काज करने में लगे । बैलों को खोल दिया । वे अब खाने में लग गए । वन के चूल्हों पर रोटियां सिकने लगीं । केशवराय ने दोनों पुत्रों को बुलवाया और फिर तीनों ने स्नान किया । फिर केशवराय संध्यावंदन करने लगे । दोनों लड़कों से भी मंत्रोच्चारण करवाया और तब उन्हें विदा करके पत्नी के निकट गए ।'[17]

'विशाल तम्बू था, मानो एक विशाल प्रकोष्ठ हो । उसमें काश्मीरी और ईरानी कालीन बिछे थे । उसमें बेशकीमती पर्दे लटके थे । फानूस और कंवलों का प्रकाश मनोहरतम बना रहा था । शाहजादा रेशमी गद्दे पर बैठा था और पीछे तकिये लग रहे थे । इत्रों से महक उठ रही थी । सामने मीठी शराब रखी थी । बांदियां पंखा कल रहीं थीं । एक बैठी पान लगा रही थी । एक से एक बढ़कर सुन्दर थी ।'[18] लेखक की वर्णनात्मक शैली, चित्रविधायिनी शक्ति सम्पन्न है :---

'शाहजादे ने ताली बजाई ।
सेवकने द्वार पर फुककर कोर्निश की
'नाच का इन्तजाम करो ।

वह 'जो हुक्म ' कहकर गया और कुछ ही देर में साजिंदे आ गए । रंग जम गया ।'[19]

लेखक ने छोटे-छोटे वाक्यों का सहारा लेकर परिस्थिति-स्थान का चित्रण किया है । जो हमारे सम्मुख उसका सजीव चित्र अंकित कर देता है ।

परिस्थिति-प्रसंग की प्रभावात्मक अभिव्यक्ति के लिए भाषा में स्वभावत: ही अलंकारिकता का भी समावेश हो गया है :---

"शाहंशाह अकबर एक रेगिस्तान में पैदा हुआ था और आज उसके प्रताप का सूर्य कहीं डूबता नहीं दीखता ।"[20]

"उसकी त्वचा मक्खन-सी श्वेत और स्निग्ध थी ।"[21]

"उन्होंने भी लोभ को लगाम कसकर रोक दिया ।"[22]

"--- लेकिन अब मैं वृद्ध हो गया हूं । फूस जैसे टूटे छप्पर के नीचे बैठने वाले की आंधी पानी से रक्षा तो क्या हो सकती है, उल्टे मेरे ही उस पर गिर जाने का भय अवश्य है ।"[23]

इस प्रकार अलंकारिकता का मोह न होते हुए भी "मेरी भवबाधा हरो" में इस प्रकार के अनेक प्रयोग देखे जा सकते हैं ।

इसके अतिरिक्त डा० राघव ने मुहावरे एवं सूक्तियों का भी यथास्थान प्रयोग किया है । बल्कि यों कहना चाहिए कि अनायास ही मुहावरे एवं सूक्तियों ने प्रस्तुत कृति में अपना स्थान बना लिया है ।

मुहावरे : गागर में सागर भरना, मंजा हुआ हाथ, मन फूलना, फूट-फूटकर रोना, कान काटना, मन भारी होना , लहू के घूंट पीना, मन टुक-टुक होना, कानों पर जूं न रेंगना, अपने पैरों पर आप कुल्हाड़ी मारना इत्यादि ।

सूक्ति : "मनुष्य का जीवन बहुत अल्प होता है । इसका स्वार्थ और लोभ बहुत बड़ा होता है ।"[24]

"गुणी को गुणी ही पहचानता है ।"[25]

"यात्रा में अनुपम होता है । एक जगह बंधकर पानी भी गंदला जाता है ।"[26]

डा० राघव की भाषा का उल्लेखनीय तथ्य यह है कि सर्वत्र भाषा एक-सी रही है । पात्रों की मन:स्थिति का प्रभाव भाषा पर नहीं पड़ा ।

सर्वत्र एक-सा प्रवाह है । चाहे बिहारी बोल रहे हों या शाहज़ादा खुर्रम या प्रवीणराय या सुशीला - सबकी भाषा एक जैसी है । पात्रानुरूप भाषा ने अपना रूप नहीं बदला वरन् एक रूप रही है ।

जीवनीपरक उपन्यास का महत्वपूर्ण तत्व है प्रामाणिकता । 'मेरी भव बाधा हरो' में बिहारी का प्रामाणिक जीवन प्रस्तुत हुआ है । लेखक ने प्रचलित किंवदन्तियों तथा बिहारी के दोहों में व्यक्त भावों और विचारों के आधार पर ही उनका जीवन-चरित्र चित्रित करने का प्रयास किया है । अपनी कल्पना शक्ति से कुछ नवीन परिवर्तन नहीं किया है । प्राप्त तथ्यों को ही अपनी कल्पना से कुछ रोचक रूप में प्रस्तुत किया है । बिहारी केजीवन से संबंधित जिन घटनाओं का वर्णन लेखक ने किया है, वे काल्पनिक न होकर इतिहास-प्रसिद्ध हैं । लेखक ने बिहारी का जन्मस्थान ग्वालियर माना है और मथुरा में अपनी ससुराल में आकर बसने का उल्लेख किया है । जगन्नाथदास रत्नाकर ने 'बिहारी बिहार' के आरम्भ में जो जीवन-चरित दिया है उसके अनुसार उनका जन्म ग्वालियर में हुआ था, बचपन बुन्देलखण्ड में बीता और यौवन मथुरा में जहां उनकी ससुराल थी ---

'जन्म ग्वालियर जानिये खण्ड बुन्देले बाल ।
तरुणाई आई सुघर मथुरा बसि ससुराल ।'

बिहारी धौम्य-गोत्री घरबारी माथुर चौबे थे और इनके पिता का नाम केशवराय था । इस विषय में निम्नलिखित दोहा अन्त:साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :---

'जनम लियौ द्विजराजकुल स्वबस बसे ब्रज आइ ,
मेरे हरौ कलेस सब केसव केसवराइ ।'

मिश्रबन्धुओं का कथन है कि :

'दोहे पर गौर करने से प्रकट होता है कि केशवराय शब्द कृष्ण के लिए आया है न कि कवि के पिता के लिए ।'

यह उचित नहीं है । बिहारी-सतसई के सर्वप्रथम टीकाकार कृष्णलाल कवि ने जो बिहारी के समकालीन थे लिखा है :---

"केसोराइ जो मेरो पिता और केसोराइ जो श्रीकृष्ण जू ।"

समकालीन होने के कारण कृष्णलाल कवि का कथन प्रामाणिक माना जा सकता है ।

बिहारी नि:संतान थे । जनश्रुति के अनुसार उनके कृष्णलाल नामक एक पुत्र का होना पाया जाता है परन्तु यह उनका औरस पुत्र नहीं था उन्होंने अपने भतीजे निरंजन कृष्ण को गोद ले लिया था । ये निरंजनदास ही कृष्ण या कृष्णलाल के नाम से पुकारे जाते थे । रत्नाकर ने लिखा है :---

"इस प्रकार के नाम संक्षिप्त होकर आधे-आधे भी पुकारे जाते हैं इसलिए कोई उन्हें निरंजन कहता होगा और कोई "कृष्ण"।"

लेखक ने केशवदास और नरहरिदास का शिष्यत्व -ग्रहण किया । किन्तु जगन्नाथदास रत्नाकर ने सर्वप्रथम नरहरिदास को बिहारी का गुरु माना । फिर नरहरिदास के सहयोग से बिहारी को केशवदास का शिष्यत्व दिलवाया -

"उसके पश्चात बिहारी के पिता अपनी संतान-सहित श्रीनरहरिदास जी के शिष्य हो गए । उस समय बिहारी की अवस्था बारह-तेरह वर्ष की थी । बिहारीदास नाम श्रीहरिदास ही का रखा हुआ प्रतीत होता है । क्योंकि उनके सम्प्रदाय में सेव्य ठाकुर का नाम "बिहारी जी" है और उक्त सम्प्रदाय के शिष्यों का नाम प्राय: दासान्त होता है ।

श्री नरहरिदास जी के पास इन्द्रजीत तथा केशवदास जी कभी-कभी आते-जाते रहते थे । किसी दिन उन्होंने केशवदास जी को बिहारी का परिचय देकर कहा कि यह लड़का बड़ा होनहार है, यदि आप इसको अपने पास रखकर कुछ पढ़ाने की कृपा कर दें तो बड़ा उपकार हो और यह कदाचित् बड़ा कवि हो जाए । केशवदास जी ने बिहारी की बुद्धि अच्छी देखकर इस अच्छी बात को सहर्ष स्वीकृत कर लिया और उनको जी लगाकर पढ़ाने लगे ।"[27]

लेखक ने इस घटना में कुछ परिवर्तन करके प्रस्तुत किया है । इसके साथ ही लेखक ने कुछ और परिवर्तन भी किये हैं जैसे बिहारी के पिता केशवराय केशवदास की मृत्यु के पश्चात परिवार सहित ओरछा से ब्रज आकर बसने लग गये और ब्रज में आकर उन्होंने नरहरिदास का शिष्यत्व ग्रहण किया किन्तु जगन्नाथदास रत्नाकर के अनुसार :

"संवत् 1670 के आसपास नरहरिदास जी से आज्ञा लेकर केशवदेवजी ने बिहारी इत्यादि के साथ ब्रज की ओर प्रस्थान किया ।"[28]

महाराजा जयसिंह और नवोढ़ा - रानी-प्रसंग , पत्नी की मृत्यु के पश्चात सन्यास आदि अन्य घटनाएं जगन्नाथदास रत्नाकर द्वारा प्रस्तुत बिहारी के जीवन-वृत्त के आधार पर प्रामाणिक ठहरती हैं ।

इस प्रकार लेखक ने बिहारी के सम्पूर्ण जीवन-वृतान्त को उपन्यस्त करने का सराहनीय प्रयास किया है । कल्पना-शक्ति से इसमें रोचकता का संचार हो गया है किन्तु कल्पना के आधिक्य के ही कारण कुछ घटनाओं में परिवर्तन हो गया है । यदि इन परिवर्तनों की ओर ध्यान न दें तो लेखक की यह लघुकृति बिहारी का सम्पूर्ण जीवन चरित्र प्रस्तुत करने का एक सफल प्रयास सिद्ध है । मानो लेखक ने गागर में सागर भर दी हो ।

---00000---

पाद टिप्पणियां :

1. मेरी भवबाधा हरो पृष्ठ 6 ।
2. -वही- पृष्ठ 7 ।
3. -वही- पृष्ठ 9 ।
4. -वही- पृष्ठ 12 ।
5. -वही- पृष्ठ 10 ।
6. -वही- पृष्ठ 14 ।
7. -वही- पृष्ठ 14 ।
8. -वही- पृष्ठ 13 ।
9. -वही- पृष्ठ 13 ।
10. -वही- पृष्ठ 26 ।
11. -वही- पृष्ठ 31 ।
12. -वही- पृष्ठ 73 ।
13. -वही- पृष्ठ 90 ।
14. -वही- पृष्ठ 109 ।
15. -वही- पृष्ठ 115 ।
16. -वही- पृष्ठ 5 ।
17. -वही- पृष्ठ 6 ।
18. -वही- पृष्ठ 51 ।
19. -वही- पृष्ठ 51 ।
20. -वही- पृष्ठ 7 ।
21. -वही- पृष्ठ 12 ।
22. -वही- पृष्ठ 7 ।
23. -वही- पृष्ठ 23 ।
24. -वही- पृष्ठ 8 ।
25. -वही- पृष्ठ 72 ।

26. मैरी भवबाधा हरो पृष्ठ 103 ।
27. बिहारी:संपादक डा० ओम प्रकाश - पृष्ठ 9 ।
28. बिहारी सतसई सं० जगन्नाथदास रत्नाकर ।

## (5) भारती का सपूत

'भारती का सपूत' में हिन्दी साहित्येतिहास के आधुनिक काल के युग-निर्माता, एक भावुक साहित्यकार, जो चन्द्रमा को देख भाव-विभोर हो रो उठा, महाकवि जगन्नाथदास रत्नाकर द्वारा 'भारती के सपूत' की उपाधि से अलंकृत भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को उपन्यस्त किया गया है। भारतेन्दु पर भी अनेक विद्वानों द्वारा लिखित जीवनियां मिलती हैं किन्तु भारतेन्दु को उपन्यास के प्रमुख पात्र के रूप में प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम सराहनीय प्रयास डा० राघव ने 'भारती का सपूत' में किया है।

भारतेन्दु की जीवनी को उपन्यस्त करने के लिए लेखक ने भारतेन्दु के जीवन से संबंधित घटना-प्रसंगों को कथा के रूप में पिरोया है। भारतेन्दु का जीवन-वृतान्त पांच अध्यायों में विभाजित है। इन अलग-अलग शीर्षकों से अभिहित अध्यायों में भारतेन्दु के जीवन के अनेक घटना-प्रसंगों को समेटने का सरस प्रयत्न किया गया है। यदि इन अध्यायों का क्रमश: विवेचन किया जाए तो पता चलेगा कि ये अध्याय मात्र उपन्यास के खण्ड रूप न होकर भारतेन्दु के जीवन की अलग-अलग अवस्थायें हैं जिनमें उनके जीवन का प्रत्येक पक्ष उद्घाटित हो सका है।

सर्वप्रथम 'अध्यापक की खोज' में लेखक ने अपनी और अपनी कृति के कथावाचक की स्थिति स्पष्ट की है। तत्पश्चात भारतेन्दु के युग की संक्षिप्त झांकी खींची है। अध्यापक रत्नहास कथावाचक के रूप में भारतेन्दु के जन्मदिवस के उपलक्ष्य में आयोजित एक सभा में प्रस्तुत कृति को पढ़कर सुना रहे हैं - ऐसी कल्पना लेखक ने की है। दूसरे अध्याय 'कालीकदमा और तिलकधारी' में भारतेन्दु के बचपन और परिवार के अनेक चित्र संयोजित किये गये हैं, 'विपथगामी' में भारतेन्दु का दानी-स्वभाव उभरकर सामने आया है। 'यात्रा और आवेश' में भारतेन्दु और उनके परिवार की जगन्नाथपुरी की यात्रा और भारतेन्दु के

विवाह का उल्लेख है । पांचवें अध्याय 'अंतिम दौर' में भारतेन्दु के सभी साहित्यिक - सामाजिक कृत्यों के उल्लेख के साथ-साथ भारतेन्दु की मृत्यु का भी वर्णन मिलता है । इन पांचों अध्यायों के मूल में लेखक की जो मूल भावना कार्य कर रही है वह है भारतेन्दु को एक असाधारण पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित करना- जिसमें लेखक को पूर्णतया सफलता मिली है ।

हिन्दी साहित्येतिहास के आधुनिक काल में भारतेन्दु को निर्विवाद रूप से 'युगनिर्माता' की दृष्टि से विशेष महत्व मिला । इसका मुख्य कारण तत्कालीन मूल्यों के प्रति उनका विद्रोही स्वर है । साहित्य और सामाजिक सांस्कृतिक पुनर्जागरण की नवचेतना के विकास के लिये उन्होंने अपना सारा जीवन अर्पित कर दिया था । डा० राघव की प्रगतिवादी विचारधारा ने जिसे बड़ी संजीदगी से प्रस्तुत किया है ।

डा० राघव ने भारतेन्दु के व्यक्तित्व-विधायक तत्वों को उनके युगीन परिप्रेक्ष्य में बनता-बिगड़ता दिखाया है । क्योंकि उनके मत में :---

'व्यक्ति को समझने के लिए उसे उसके ही युग के बीच में रखकर देखना आवश्यक है । नये युग का यदि यह परिवर्तन स्पष्ट हो जाएगा तो भारतेन्दु का जीवन भी स्पष्ट हो जाएगा ।'[1]

डा० राघव के कृत्य की सबसे बड़ी सफलता यह है कि उन्होंने भारतेन्दु के जीवन के प्रमुख घटना-प्रसंगों की रेखाओं में अपनी अद्वितीय कल्पना एवं सूझ से ऐसा रंग भर दिया है कि इसमें केवल भारतेन्दु का चरित्र ही उभरकर सम्मुख नहीं आता वरन् उस युग का समस्त सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक-परिवेश भी सजीवता से अंकित हुआ है । उपन्यास से यह तो स्पष्ट ही है कि भारतेन्दु के समय में भी जाति-भेद एवं वर्ण-भेद व्याप्त था :---

'उच्च वर्णों का तब बहुत बड़ा असर था । बहादुर शाह ने अंतिम समय में राजस्थान के उच्चकुलीन राजाओं को एक घोषणापत्र भी भेजा था कि मैं राजाओं का संघ बनाने को तैयार हूं बशर्ते कि आपमें से कोई ऊंचे कुल

का राजा इस समय युद्ध का सेनापति बन सके । उसने साफ लिखा था कि इस देश में उच्चकुलों का ही सम्मान है अत: आपसे यह हार्दिक प्रार्थना करता हूं । दुर्भाग्य से उच्चकुल परस्पर फूट में पड़े हुए थे जर्जर थे, कोई भी अंग्रेजों से टक्कर लेने को तैयार नहीं हुआ ।"[2]

विलासिता का ही दूसरा नाम उच्चवर्ग था :—

"कौन ऐसा रईस है जिसके यहां रण्डियां नहीं नाचती ।"[3]

मुखमरी का ही दूसरा नाम गरीब वर्ग था । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भारतीय संस्कृति के जागरुक प्रहरी थे । उन्होंने हिन्दी और अंग्रेजी के अनेक विद्यालय खोले, जिनमें भारतीय संस्कृति की शिक्षा दी जाती थी । उन्होंने स्पष्ट कहा —

"मुझे भारतीय संस्कृति चाहिए, ताकि अंग्रेजी पढ़कर लोग जान सकें कि अंग्रेज किन खूबियों की वजह से हुकूमत करते हैं न कि काले साहब बनकर दोगलों की तरह अपनों से ही नफरत करने में घमंड कर सकें । इस देश को बहुत-से पढ़े-लिखे लोगों की जरुरत है । थोड़े से रईसों के लड़कों से देश का उद्धार नहीं हो सकता । उसके लिए नये इन्सानों की एक फसल खड़ी करनी होगी ।"[4]

भारतेन्दु का साहित्य वास्तव में भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य सभ्यता के संघर्ष का साहित्य है । भारतेन्दु के समय में भारतीय जीवन के सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में नवीन परिस्थितियां उत्पन्न हो रही थीं । भारतेन्दु ने तत्कालीन परिस्थितियों से उत्पन्न नवीन समस्याओं को अपनी रचनाओं में पूर्णतया मुखरित किया है । उन्होंने समाज-सुधार, देशभक्ति और भारतीय-संस्कृति के गौरव की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करते हुए जातीय चेतना का प्रशस्त मार्ग प्रस्तुत किया । भारतेन्दु का युग सामाजिक-जागरण का युग था । इस काल में समाज-सुधार की भावना बल पकड़ने लगी थी । अंग्रेजी शासन और अंग्रेजी शिक्षा के परिणामस्वरूप भारतीय समाज पश्चिमी सभ्यता के रंग में

लिप्त हो रहा था । ऐसी दशा में विभिन्न सामाजिक कुप्रथाओं को दूर करने की बागडोर भारतेन्दु ने सम्भाली । स्त्री-शिक्षा, वर्ण-भेद का त्याग, बाल विवाह का उन्मूलन और विधवा-विवाह का प्रचलन जैसे समाज-सुधार संबंधी विषयों को साहित्य में स्थान दिया । जाति-वर्गगत भेदभाव, कुलाकुल बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, बहु-विवाह, मद्यपान आदि सामाजिक कुप्रथाओं के निवारण की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया ।

प्रस्तुत कृति में भारतेन्दु के अतिरिक्त भी ऐसे अनेक पात्र आये हैं जो मस्तिष्क पर अपनी छाप छोड़ जाते हैं । भारतेन्दु के अतिरिक्त अन्य पात्रों में मन्नो-बीबी, गोकुलचन्द, कालीकदमा और तिलकधारी, राजा शिवप्रसाद, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर बाबू गदाधरप्रसाद, मोहनबीबी, मुकुन्दी, गोविन्दी, मल्लिका इत्यादि मूल्य हैं । ये सभी पात्र भारतेन्दु के व्यक्तित्व से प्रभावित होते हुए दीख पड़ते हैं । मन्नो बीबी की पतिपरायणता, गोकुलचन्द्र का मातृ प्रेम कालीकदमा और तिलकधारी का सेवाभाव आदि चारित्रिक विशेषताएं उभरकर सामने आई है । इन सभी पात्रों के सहयोग से भारतेन्दु के चरित्र को निखार मिला है ।

शिल्पगत दृष्टि से "भारती का सपूत" बेजोड़ है । इस उपन्यास का प्रस्तुतीकरण ही नाटकीयतापूर्ण है जो कि लेखक की अपूर्व कल्पनाशक्ति का परिचायक है । प्रस्तुत कृति को अध्यापक रत्नहास की खोज कहना और उनके माध्यम से भारतेन्दु का जीवन-चरित्र पढ़कर सुनाना- उनकी बेजोड़ और अद्भुत कल्पनाशक्ति का ही परिचायक है । इससे उपन्यास में रोचकता और सजीवता का संचार हो गया है । बीच-बीच में भारतेन्दु की जीवनी को विस्तार से बचाने के लिए अध्यापक रत्नहास के माध्यम से भारतेन्दु के जीवन के मात्र विवरण प्रस्तुत किये हैं एक जगह पर मन्नोबीबी के चिन्तन के माध्यम से भारतेन्दु के जीवन के कुछ अंशों का उल्लेख किया है - इसमें लेखक की टेकनीक की विशेषता ही दीख पड़ती है । लेखक ने विस्तार- भय से बचने के कारण ही ऐसा किया है । यह लेखक की सूझ-बूझ का परिचायक है ।

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, उस दृष्टि से भी यह एक सफल जीवनीपरक उपन्यास बन पड़ा है । उपन्यास में प्रयुक्त भाषा पात्र-प्रसंगानुकूल है । आवश्यकतानुसार उसमें उर्दू, और स्थानीय शब्दों का प्रयोग किया है :---

उर्दू : गुमाश्ता अमला, महफिल, अरमान, मजलिस, कसूर, हुक्म, हाज़िर, ऐशो आराम, पुश्तैनी , नमक ख्वार, जरूरत, खिदमत, तारीख, फायदा, कर्ज, गैर, रईस, नियामत, नफरत, नाजायज़ इत्यादि ।

स्थानीय : जस, बौरना, बामन, गिरस्त, धरम, जनम, पूरब, शकल, मूरख, मरद आदि ।

लेखक ने कुछ प्रत्यय-उपसर्ग जोड़कर नये शब्दों की भी सृष्टि की है जैसे :---

बद इन्तज़ामी, बमुश्किल, असम्मान, आसरतू, छिछालेदर इत्यादि ।

वाक्य-विन्यास भी पात्रानुकूल है । बच्चों की बातचीत में लेखक की लेखनी तुतलाने लगती है :---

"हरिश्चन्द्र ने कहा : गोकुल ।
क्या है भइया ?
बाबूजी क्या कर रहे हैं ?
पूजा कल लहे है ।"[5]
"मैं अम्मा के पास जाऊंगा ।"[6]

उपन्यास के कुछ पात्रों की भाषा स्थानीय रंगत लिये हुए है । उदाहरणस्वरूप कालीकदमा के कथनों को देखा जा सकता है :---

"नोन मिर्च उतारकर चूल्हे में फेंककर आई हूं । ज़रा भी तो बांस उठी हो । सच जाकर बाबा भोलेनाथ से तावीज़ बनवाकर नहीं ले आते ? बांध देती इसके । जा बैठता है वहां । उनके घरों में इतनी अकल के बच्चे हैं कहां । देखती हूं दीदे फाड़-फाड़ देख रहे थे, जैसे मेरे बच्चे को निगल ही जायेंगे ।"[7]

पात्रों की बातचीत के आमबोल चाल की भाषा में है ही । मानसिक व्यथा के चित्रण हेतु भी लेखक ने सीधी-सरल भाषा में छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग किया है । बालक हरिश्चन्द्र की मनोव्यथा को लेखक ने अत्यंत सजीवता से उजागर किया है :---

"मां !! कहां है मां । यह तो मेरी मां नहीं । वह मुझे बुरा कहती है । वह मुझे बिगड़ा हुआ कहती है ? वह मुझसे घिन करती है । वह मुझे अच्छा नहीं समझती, बुलाती नहीं । तब मैं क्यों जाऊं उसके पास ?

मैं बात भी नहीं करुंगा । मुझे क्या गरज़ पड़ी है जो बोलूं जाकर । मैं बात भी नहीं करुंगा । मैं भी उससे घिन करुंगा । वह मुझसे घिन करती है, तो क्या मैं नहीं कर सकता । मैं भी उससे घिन करुंगा ।।"[8]

इसी तरह भारतेन्दु की पत्नी मन्नो के चिंतन को भी लेखक की लेखनी ने सशक्त वाणी प्रदान की है ।

लेखक ने वातावरण-परिस्थिति इत्यादि के चित्रण में वर्णनात्मकता का आश्रय लिया है :---

"बड़े ज़ोर की तैयारियां प्रारम्भ हुईं, और फिर पूरी हुई ही थी कि कड़ाव भट्टियों पर चढ़ गए, घी की महक से घर भर गया । अतिथियों की भीड़ ने घर के आंगनों में बिछी दरियों को आक्रान्त कर दिया । केवड़े से सुगन्धित जल, दीवारों और छतों पर लगे फाड़-फानूसों की चमक, चारों ओर वैभव, विशाल और सुन्दर पालकियों से उतरते सुसज्जित पुरुष, भीतरी आंगन में रेशम से सरसराते कपड़ों वाली स्त्रियों के सोने और हीरों के गहनों की खनक, बाहर घोड़ों और हाथियों की भीड़, नौकरों की व्यस्त हलचल, उठते हुए अट्टहासों में प्रभु वर्ग का उल्लास, बाहर के चबूतरे में वेश्याओं के पक्के गाने ---- ।"[9]

अधूरे वाक्यों के माध्यम से वातावरण-चित्रण में कोई कमी नहीं रहने पाई है । छोटे-छोटे वाक्यों, अधूरे वाक्यों, से लेखक की लेखनी ने गागर

में सागर भर दिया है :---

'फिर क्रिया-कर्म । भीड़ें । कोलाहल । मुनीम की व्यस्तता । फूफाजी का प्रबन्ध । मां की उदासी । वहीं बैठक सूनी पड़ी थी ।'[10]

लेखक की लेखनी कहीं भी लड़खड़ायी नहीं है । कैसा भी प्रसंग हो लेखक की लेखनी उसका सजीव चित्रांकन करने में समर्थ हुई है । यही कारण है कि भारतेन्दु का सम्पूर्ण जीवन हमारे सम्मुख पृष्ठ-दर-पृष्ठ चलचित्र की भांति साकार होता जाता है । उपन्यास की शुरुआत ही अत्यंत नाटकीय ढंग से हुई है :---

'अध्यापक रत्नहास उठ खड़े हुए । उन्होंने दीवार पर टंगे हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के विशाल चित्र को देखा और फिर उपस्थित सज्जनों और स्त्रियों से कहा : 'भाइयों और बहनो । मैंने आपको आज एक विशेष कारण से निमंत्रित किया है ।'[11]

लेखक ने पात्रों के हावों-भावों को भी मूर्त करने का सटीक प्रयास किया है :---

'सरकार । तुलसी ने कहा, 'महाराज के समझाने पर बड़े भइया जी ने जवाब दिया, 'महाराज । इस रुपये ने मेरे पुरखों को खाया है, इसे मैं खाऊंगा ।'

मां पर वज्र-सा गिरा । मौं चढ़ी रह गईं । गोकुलचन्द्र कटे पेड़ से झूमकर दीवार से टिक गए । आंखें फटी सी रह गईं । मन्नो बीबी आतंकित-सी बैठ गईं । छोटी बहू ने सुना तो खाट की पाटी पर रखा पांव धरती पर आ गया और तुलसी अवाक-सा खड़ा देखता रह गया, जैसे सारा का सारा दोष उसी का था । हवा में मनहूसियत फैलने लगी । सारा घर काटने को घुमड़ता-सा लगा । उस क्षण मन्नो-बीबी का हृदय कठोर हो चला । उसने धीरे से पूछा : 'तुलसी । तू सच कहता है ?'[12]

सारा उपन्यास इसी चित्रण शैली का उदाहरण है । चित्रण चाहे

प्रकृति का हो या परिस्थिति का, हाव-भाव का हो या मन:स्थिति का लेखक की लेखनी ने सब जगह कमाल दिखाया है ।

चित्रात्मकता के साथ-साथ अलंकरण भी लेखक की भाषा को महत्वपूर्ण सहायक अंग के रूप में आया है । उपन्यास में स्थान-स्थान पर अलंकारपूर्ण उक्तियां देखी जा सकती हैं ।---

"जब हरिश्चन्द्र लौटा, मन उल्लसित था । दु:ख दब गया था । विषाद् के अंतिम पग-चिह्नों पर ममता के फव्वारे विस्मृति की धूलि डाल रहे थे, दबाए दे रहे थे ।"[13]

"अवरुद्ध सर्प की भांति वह नारीत्व छटपटा उठा ।"[14]

"मुकुन्दी बीबी के मुख पर अकाल वैधव्य ने गहरी वेदना का जाल छोड़ दिया था, जो आयु की लहरों पर तैरता हुआ भी उनके यौवन रुपी मत्स्य को फांस चुका था । उनके मुख पर तप:पूत साधना की दृढ़ता थी, जिसे देखकर पुरुष ने शाश्वत अहं की समिधा को हाथ में लेकर अनन्त प्रेम का वह गहन मन्त्र सीखा था ।"[15]

"वह बिना अंकुश के हाथी की तरह सब कुछ तहस-नहस कर दे ।"[16]

मुहावरों और सूक्तियों के भी वाक्य-विन्यास का अलंकरण किया है । सम्पूर्ण उपन्यास में कई मुहावरों का अनायास ही प्रयोग हो गया है , लेखक को जबर्दस्ती उन्हें घुसाना नहीं पड़ा है । ये मुहावरे लेखक की भाषा का एक अंग प्रतीत होते हैं :---

लकीर के फकीर, नाक पे मक्खी न बैठने देना, सिर चढ़ाना , उल्लू बनाना, मुंह काला पड़ना इत्यादि ।

जहां लेखक ने चिंतन प्रस्तुत किया है वहां बीच-बीच में कई सूक्ति-कथनों का समावेश भी हो गया है :---

'धन एक विचित्र वस्तु है । अच्छे-अच्छे हृदय भी इसके चक्कर में पड़कर बुरे दिखाई देने लगते हैं । --- धन सबसे बड़ा काम है लोगों में आपस में अविश्वास पैदा कर देना ।'[17]

'इंसान की शर्म उसके लालच से भी बड़ी होती है ।'[18]

'पर्वत के ऊपर चढ़ने वाले के ही घुटने टूटते हैं । वह ही ऊंचाई की महानता जानता है । जो पर्वत पर ही जन्मा है, वह उस दु:ख को क्या जाने, वह तो सारी दुनिया को छोटा कहना ही जान सकता है ।'[19]

इस प्रकार लेखक का अपनी लेखनी पर पूर्ण अधिकार है । यह लेखक की भाषा-शैली की ही विशेषता है कि भारतेन्दु का जीवन चरित्र इतना सजीव और रोचक बन पड़ा है ।

साथ ही, कृति की प्रामाणिकता भी असंदिग्ध है । लेखक ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की जीवनी के आधार पर यह उपन्यास लिखा है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक युग के सूत्रधार हैं अतएव उनके जीवन को लेकर कोई विवाद नहीं मिलता । भारतेन्दु की पुत्री के पुत्र बाबू ब्रजरत्नदास रत्नाकर ने उनकी जीवनी लिखी है । उसी को आधार बनाकर डा० राघव ने यह औपन्यासिक जीवनी प्रस्तुत की है ।

इस प्रकार ये पांचों उपन्यास डा० राघव के साहित्यिक पुरुषों की जीवनी पर आधारित उपन्यास हैं । वास्तव में विद्यापति, कबीर, तुलसी, बिहारी और भारतेन्दु जैसे महान् साहित्यकारों के जीवन को उपन्यस्त करने का सर्वप्रथम प्रयास डा० राघव ने ही किया है । नागर जी ने तुलसी के जीवन-चरित्र के आधार पर 'मानस का हंस' रचा है जो इस कोटि की महानतम् विभूति के रूप में स्वीकार्य है । इन साहित्यकारों के जीवन-चरित्रों को उपन्यस्त करने के प्रयास में जहां एक ओर इन साहित्यकारों की अपने युगीन-सन्दर्भों में सही तस्वीर उभरी है, वहीं दूसरी ओर सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य का इतिहास भी उजागर हो उठा है । इस दृष्टि से इन उपन्यासों का स्थान महत्वपूर्ण है ।

किन्तु इसे लेखक के भाग्य की विडम्बना कहा जाये या हिन्दी आलोचकों की उदासीनता कि नागर जी को जो महत्व उनके एक जीवनीपरक उपन्यास 'मानस का हंस' के माध्यम से अर्जित हो सका है वह राघव को इन पांच उपन्यासों के माध्यम से भी नहीं मिला ।

--00000--

## पाद टिप्पणियां :

1. भारती का सपूत पृष्ठ-19 ।
2. -वही- पृष्ठ- 15-16 ।
3. -वही- पृष्ठ- 89 ।
4. -वही- पृष्ठ- 73 ।
5. -वही- पृष्ठ- 29 ।
6. -वही- पृष्ठ- 22 ।
7. -वही- पृष्ठ- 28 ।
8. -वही- पृष्ठ- 34 ।
9. -वही- पृष्ठ- 53 ।
10. -वही- पृष्ठ- 54 ।
11. -वही- पृष्ठ- 7 ।
12. -वही- पृष्ठ- 97-98 ।
13. -वही- पृष्ठ- 63 ।
14. -वही- पृष्ठ- 70 ।
15. -वही- पृष्ठ- 100 ।
16. -वही- पृष्ठ- 105 ।
17. -वही- पृष्ठ- 95 ।
18. -वही- पृष्ठ- 114 ।
19. -वही- पृष्ठ- 132 ।

(ख) धार्मिक और समाज-सुधारकों की जीवनी पर आधारित उपन्यास

जीवनीपरक उपन्यासों की इस दूसरी कोटि में महान् धर्म-प्रवर्तकों एवं समाज-सुधारकों के जीवन-चरित्रों को उपन्यस्त किया जाता है । उपन्यास का पात्र सामान्य काल्पनिक पात्र न बनाकर प्रसिद्ध धर्म-प्रवर्तक या समाज-सुधारक को बनाया जाता है । ऐसे धर्म प्रवर्तक जिन्होंने धर्म के क्षेत्र में कोई सुधार करके कोई नव मार्ग प्रदर्शित किया हो और ऐसे समाज-सुधारक जिन्होंने समाज-सुधार के कार्य किये हों, समाज में प्रचलित कुप्रथाओं, बुराइयों इत्यादि का उन्मूलन कर इतिहास में अपना स्थान बनाया हो । डा० राघव ने श्रीकृष्ण और महात्मा बुद्ध के जीवन-चरित्रों को इसी उद्देश्य से उपन्यस्त किया है ।

## (1) यशोधरा जीत गई

जहां इस धरती ने तुलसीदास, कबीरदास इत्यादि साहित्यकारों को जन्म दिया वहां ऐसे महामानवों को भी जन्म दिया है जिनका यशोगान कालजयी है । जिनका जीवन विश्व-कल्याण की भावना से मण्डित था । ऐसे महामानवों में महात्मा बुद्ध का नाम अमर है । इस महामानव का जीवन-चरित्र अनेक ग्रंथों में मिलता है । किन्तु उपन्यास के रूप में उनकी जीवनी प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम प्रयास डा० राघव ने 'यशोधरा जीत गई' में किया है । लेखक ने भूमिका में ही स्पष्ट किया है :---

'गौतम बुद्ध का जीवन त्रिपिटकों में बिखरा पड़ा है । अभी तक बुद्ध पर लिखने वालों का दृष्टिकोण साम्प्रदायिक रहा है । मैंने अपना ऐतिहासिक दृष्टिकोण रखा है ।'[1]

डा० राघव ने प्रस्तुत उपन्यास में महात्मा बुद्ध का सम्पूर्ण जीवन तीन खण्डों - प्रथमा, मध्यमा, उत्तरा में चित्रित किया है । ये तीनों खण्ड उपन्यास के तीन खण्ड न होकर महात्मा बुद्ध के जीवन की तीन अवस्थाएं हैं जिनके माध्यम से उनकी महानता को उजागर किया गया है ।

प्रथमा अध्याय में सिद्धार्थ के मानसिक चिंतन से कथा की शुरुआत होती है । मानसिक द्वन्द्व की ऊहापोह में पड़े हुए महात्मा बुद्ध स्वयं अपने जीवन का प्रत्यावलोकन कर रहे हैं :---

'और आता हुआ अन्धकार मुस्करा दिया । सिद्धार्थ खड़ा-खड़ा सोचने लगा । आज सारा अतीत आंखों के सामने घूम रहा था । क्योंकि वह उसे भूलना चाहता था, वह बार-बार आज याद आ रहा था ।'[2]

तत्पश्चात महात्मा बुद्ध के बचपन से लेकर विवाह तक की और मुख्यत: उनके जरा और रोग को देखकर चिन्तित होने की घटनाएं वर्णित है :---

"सिद्धार्थ ने शय्या में मुंह छिपा लिया था । धनी भी, दरिद्र भी । और इस विषम संसार में, जातियों के अहंकार और घृणा में, वह कौन-सा रास्ता है जहां मनुष्य-मनुष्य समान हैं । यह सब नष्ट कहां होगा ? मनुष्य सुखी कैसे हो सकेगा ?"[3]

महात्मा बुद्ध स्वयं ही अपने जीवन का प्रत्यावलोकन कर रहे हैं । वे अपने जीवन की घटनाएं और फलस्वरूप परिस्थितियों का लेखन और विश्लेषण करते और वर्तमान से अतीत तथा अतीत से वर्तमान की मानसिक-यात्रा करते दिखाये गये हैं ।

यहां एक उल्लेखनीय बात यह है कि यदि इस उपन्यास की भूमिका न पढ़ी जाये तो इसकी शुरुआत अत्यन्त रहस्यात्मक प्रतीत होती है । लेखक एक रहस्यात्मक जाल बुनता जान पड़ता है । उपन्यास खोलने पर हमारे सामने एक नामहीन मस्तिष्क आता है जो चिन्तन कर रहा है :---

"निरंजन नदी अपनी गंभीर गति से बहती चली जा रही थी । जल का कल-कल निनाद तीरस्थ वनभूमि में अपनी हल्की गूंज प्रतिध्वनित कर रहा था । उस वेला की प्राचीन भूमि में तीर पर खड़े अश्वत्थ वृक्ष की छाया में एक पैंतीस वर्ष का युवक गम्भीर मुखाकृति लिए खड़ा था । वह किसी गहन चिंतन में पड़ा हुआ था ।"[4]

मध्यमा खण्ड में, महात्मा बुद्ध के जीवन के मध्य की घटनाएं वर्णित हैं । सिद्धार्थ का मृत्यु और श्रमिक को देखकर चिंतित होना- फलस्वरूप गृह-त्याग और साधना में लीन होने की घटनाओं को स्थान मिला है :---

"मैं डरता हूं ।

मुझे क्यों लगता है कि सब कुछ ही काल के जबड़ों में फंसा हुआ है और वह अत्यंत बर्बरता से उसे चबाए जा रहा है । क्या मैं केवल अपने को बचा लेना चाहता हूं ?

नहीं ।
मुझे संसार का भय हो रहा है ।
किसलिए ?
सब नश्वर हैं ।"[5]

यह सम्पूर्ण खण्ड अन्तरालाप-शैली में है । उत्तरा खण्ड में, महात्मा बुद्ध के साथ-साथ यशोधरा के चरित्र को गरिमा प्रदान की गई है । ऐसा लगता है मानो लेखक महात्मा बुद्ध को माध्यम बनाकर यशोधरा को महानता देना चाहता है । इसी उद्देश्य से लेखक ने उपन्यास का शीर्षक "यशोधरा जीत गई" रखा है । यद्यपि उपन्यास का मुख्य पात्र और मुख्य उद्देश्य महात्मा बुद्ध हैं और उनका जीवन-चरित्र चित्रित करना ही मुख्य ध्येय है किन्तु प्रधानता यशोधरा को ही मिली है । यशोधरा ही उपन्यास में अपना मुख्य प्रभाव छोड़ने में सफल हुई है । लेखक ने उसके विद्रोही रूप को वाणी प्रदान कर नारी-जागरण को महत्व दिया है । वह आधुनिक नारी का प्रतिनिधित्व करती दिखाई गई है :---

"वे मेरे पति थे । मैं उनकी दया नहीं, समान अधिकारों को चाहती हूं ।"[6]

स्त्री को अबला और भोग्या और पुरुष को बलवान मानने का वह विरोध करती है :---

"मैं आज तक यह नहीं समझ पाई कि जब जीवन में हम दोनों मिलकर ही पूर्ण बनते हैं तो परस्पर यह द्वन्द्व क्यों आता है । स्त्री आखिर कितना समर्पण करे । पुरुष अपने को अलग से क्यों सोचता है । नारी में से आता है और फिर नारी को अपना भोग्य समझने लगता है ।"[7]

"ठीक है देवी । जो जन्म देती है, वह नीची है, जो पालती है वह नीची है, फिर पुरुष ही क्यों ऊंचा है ।"[8] उसका विद्रोही रूप सिद्धार्थ के गृह-त्याग को भी निस्सार समझता है :---

"संसार का दुःख दूर करने को वन जाने की क्या आवश्यकता है ।"[9]

यहां लेखक की प्रगतिवादी विचारधारा प्रखर रूप धारण करती प्रतीत होती है :---

"जब दूसरे इनके लिए घर बनाकर रहते हैं तो ये क्या पागल हैं कि घर बसाएं --- जब सब ऐसे ही हो जाने तो इन्हें कौन खिलाएगा ? फिर इनमें से कुछ खेती करने लगेंगे और फिर यही तांता चल पड़ेगा ।"[10]

लेखक को सिद्धार्थ के विश्ववंद्य होने की प्रसन्नता है किन्तु यशोधरा को भी वे उससे नीचा नहीं समझते :---

"मुझे यह देख-देखकर प्रसन्नता होती है कि मेरा ही पति आज विश्ववंद्य हो रहा है पर जाने क्यों प्रयत्न करके भी इस आनन्द के द्वारा मैं अपने को उनसे कुछ नीचा नहीं समझ पाती ।"[11]

क्योंकि वह अपने कर्तव्य-पथ पर सदैव अडिग और सतर्क रही । संयोग के समय न तो वह विलासिता में लिप्त हुई और न वियोग के समय घर-द्वार छोड़कर तपस्विनी ही बनी । प्रत्येक स्थिति में महात्मा बुद्ध को उसके सामने झुकना पड़ा और यशोधरा अपराजिता रही :---

"आर्ये महाप्रजापति गौतमी । सुनती हो । यदि वह शास्ता होते तो राहुल के पितामह और राहुल की माता से आज्ञा प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं समझते ? किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया । दायज दिया है तो पिता के ही रूप में न ? जब वे पिता ही हैं तो क्या पूर्ण भिक्षु हैं ?"[12]

अतएव यह कहा जा सकता है कि लेखक का उद्देश्य नारी-जागरण को श्रेय देना रहा है । लेखक ने स्पष्टतया महात्मा बुद्ध की अपेक्षा यशोधरा के चरित्र को महत्ता प्रदान की है । मैथिलीशरण गुप्त की काव्यकृति "यशोधरा" के अधूरे कार्य को डा० राघव की इस कृति में पूर्णता मिली है । यह केवल यशोधरा की जीत नहीं वरन् सम्पूर्ण नारी-जाति की जीत है ।

महात्मा बुद्ध और यशोधरा के संघर्ष के अतिरिक्त तत्कालीन युगीन-संघर्षों को भी स्पष्ट किया गया है । बुद्ध और यशोधरा की कथा के साथ-साथ उनके समाज और युग की कथा को भी वाणी प्रदान की गई है । समाज में जाति-विभाजन को संस्कृति की रक्षा के लिए अनिवार्य माना गया है । शुद्धोदन ने कहा :---

'पुत्र ! व्यवहार में ही हम ऊंचे और नीचे कुल हैं, किन्तु यह व्यवहार संसार को अनर्गल होने से बचाने के लिए है, संस्कृति और धर्म की रक्षा के लिए आवश्यक है ।'[13]

दास-प्रथा जोरों पर थी जिसे आवश्यक परम्परा माना जाता था :--

'यह आर्यं या अनार्यं नहीं, यह एक आवश्यक परम्परा है ।'[14]

ब्राह्मण और क्षत्रियों के संघर्ष का भी उल्लेख मिलता है :---

'जब ब्राह्मण शासक थे, तब वे ऊंचे थे । फिर ब्राह्मण क्षत्रिय संघर्ष हुए, फिर मित्रता हुई, तब ब्राह्मण भिखारी बना, परन्तु धर्म का स्वामी रहा और क्षत्रिय ? वह राजा था । और जानता है फिर क्या हुआ ? ब्राह्मण ने अपनी रक्षा के लिए जगह-जगह अनार्यं देवी-देवताओं और अनार्यं पुरोहित समूहों को ब्राह्मण मान लिया और रक्त शुद्धि को नष्ट करने लगा । उस समय हमने ही गणों में महासम्मत कुल के शुद्ध रक्त की रक्षा की है । हमने ब्राह्मण के वेद को नहीं माना, हमारे क्षत्रियों का अपना दर्शन है । हम सर्वश्रेष्ठ हैं, हमसे ऊंचा कोई नहीं ।'[15]

धार्मिक कर्मकाण्ड भी मुंह फैलाये खड़े थे । यज्ञ के नाम पर पशु-हिंसा होती थी । ऐसे में बौद्ध-धर्म ने बाह्य विधानों की अपेक्षा आंतरिक शुद्धि का प्रचार किया । इस प्रकार लेखक ने महात्मा बुद्ध के युग का भी चित्रण बड़ी सजीवता से किया है ।

यह तो स्पष्ट है कि 'यशोधरा जीत गई' का कथ्य बुद्ध और यशोधरा के चरित्र पर आधारित है । बुद्ध के जीवन से संबंधित घटना-प्रसंगों को इन तीन अध्यायों में कथा के रूप में प्रस्तुत किया गया है । महात्मा बुद्ध के चिंतन के रूप में उनके सम्पूर्ण जीवन की झांकी प्रस्तुत कर लेखक ने अपनी अद्भुत अभिव्यंजना-शक्ति का परिचय दिया है ।

जहां तक कथा प्रवाह का प्रश्न है सम्पूर्ण कथा धारा-प्रवाह रूप में चली है । प्रथमा, मध्यमा, उत्तमा खण्डों के आधार पर महात्मा बुद्ध के जीवन की सभी घटनाओं को आदि, मध्य और अन्त के क्रमानुसार व्यंजित किया गया है ।

शिल्प की दृष्टि से यह जयशंकर प्रसाद की काव्यमयी शैली का उदाहरण बन पड़ा है । लेखक उपन्यासकार के साथ-साथ कवि भी है । यूं तो उसके कवि रूप की थोड़ी-बहुत झलक उसके अन्य उपन्यासों में भी मिलती है, किन्तु प्रस्तुत कृति में उसका कवि रूप मुखर रहा है । चाहे पात्र की बाह्य आकृति का वर्णन हो या आंतरिक स्थिति का, चाहे बाह्य वातावरण का चित्रण हो या हाव-भावों का, हास्य-विनोद का प्रसंग हो या दुःसह दारुण या प्रेम के ऐकान्तिक क्षण- हर समय लेखक का उपन्यासकार के साथ-साथ कवि रूप सजग रहा है :---

"उसकी खिंची हुई भवें उसके उन्नत ललाट और लम्बी नाक के बीच में ऐसी दिखती थी जैसे अरुणोदय वाले क्षितिज की पृष्ठभूमि पर रेलमार्ग से दिखाई देने वाले दो जहाजों के पाल अनन्त के वक्ष पर तन गए हों और अज्ञात आलोक की ओर बढ़ चले हों । उसके लम्बे और पतले होठों पर एक विचित्र स्फुरण थी मानो वे किसी अत्यंत पवित्र शब्द का निर्घोष करने के लिए व्याकुल हो उठे हों ।[16]

लेखक की इस काव्यपूर्ण शैली का शृंगार अलंकारों के माध्यम से भी हुआ है :---

"कमल के स्वच्छ दल से नेत्र "[17]

"सिद्धार्थ उन सुन्दरियों के बीच में विलास-मग्न ऐसा दिखाई दिया जैसे हथिनियों के बीच गजराज जल विहार कर रहा हो ।"[18]

"उस समय छन्दक ने मग्न पांत की भांति डूबते स्वर से कहा था---"

"जैसे अब आंसू नहीं बह रहे थे, बड़ी भीषण लहरें थी जिनमें वह पांत डूब गया था ।"[19]

"महाप्रजापति गौतमी विह्वल होकर, सस्वर कुररी के समान क्रन्दन कर उठी ।"[20]

स्थान-स्थान पर मुहावरे, एवं सूक्तियां भी नगीने की तरह चमकते दिखाई देते हैं :---

मुहावरे : सिर उठाना, हृदय फटना इत्यादि ।

सूक्तियां : 'मनुष्य का अच्छा बुरा काम ही सुख-दुःख देता है ।'[21]

'लोभ संयम से कटता है ।

'संयम का आधार ब्रह्मचर्य है ।'[22]

'समान धर्म, लोक, सबकी मर्यादा है किन्तु सबसे ऊपर व्यक्ति की मर्यादा है ।'[23]

इस प्रकार प्रस्तुत कृति की भाषा-शैली काव्यप्रधान है । लेखक ने सभी जीवनीपरक उपन्यासों में यही एक उपन्यास है जिसकी शैली काव्यपूर्ण एवं तत्सम प्रधान है । अन्य सभी उपन्यास बोलचाल की भाषा में हैं किन्तु 'यशोधरा जीत गई' में लेखक की लेखनी एक सर्वथा नये और भिन्न रूप में उजागर हुई है ।

प्रामाणिकता की दृष्टि से भी प्रस्तुत उपन्यास सफल प्रयोग बन पड़ा है । ऐतिहासिक तथ्यों की रक्षा में लेखक की लेखनी चौकस रही है ।

इस प्रकार कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि प्रस्तुत उपन्यास अभिनव-शैली-प्रयोग का अनूठा उदाहरण है, जो प्रसाद के उपन्यासों की शैली का स्मरण कराता है ।

—00000—

## पाद टिप्पणियां :

1. यशोधरा जीत गई , पृष्ठ 5 ।
2. -वही- पृष्ठ 9 ।
3. -वही- पृष्ठ 43 ।
4. -वही- पृष्ठ 7 ।
5. -वही- पृष्ठ 51 ।
6. -वही- पृष्ठ 104 ।
7. -वही- पृष्ठ 37 ।
8. -वही- पृष्ठ 93 ।
9. -वही- पृष्ठ 102 ।
10. -वही- पृष्ठ 131 ।
11. -वही- पृष्ठ 129 ।
12. -वही- पृष्ठ 142 ।
13. -वही- पृष्ठ 28 ।
14. -वही- पृष्ठ 29 ।
15. -वही- पृष्ठ 30 ।
16. -वही- पृष्ठ 7 ।
17. -वही- पृष्ठ 16 ।
18. -वही- पृष्ठ 31 ।
19. -वही- पृष्ठ 100 ।
20. -वही- पृष्ठ 100 ।
21. -वही- पृष्ठ 68 ।
22. -वही- पृष्ठ 87 ।
23. -वही- पृष्ठ 88 ।

## (2) देवकी का बेटा

प्रस्तुत कृति में कृष्ण के जीवन-चरित्र को औपन्यासिक रूप में प्रस्तुत किया गया है । कृष्ण के जीवन से संबंधित अनेक इतिहास और लोक-प्रसिद्ध घटनाओं को कथा का आधार बनाया गया है । कृष्ण के बचपन से लेकर कंसवध तक की घटनाओं को उपन्यास में स्थान मिला है । उपन्यास की भूमिका में ही लेखक ने अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी है :---

"कृष्ण का चरित्र बहुत विशाल है । इसलिए मैंने कंस-वध तक का समय लिया है । यदि इस प्रकार पूरा चरित्र लिखा जाए तो संभवत: सात-आठ ऐसे ग्रन्थ और हो जासेंगे ।"[1]

लेखक ने कृष्ण के दैवी या ईश्वरीय रूप को न उजागर कर मानवीय रूप को प्रस्तुत किया है । उन्हें जननायकत्व के प्रतिनिधि के रूप में चित्रित किया गया है :---

" यह तो सच है कि कृष्ण के समय से बहुत ही कृष्ण-चरित्र लिखा गया है तभी उसके साथ चमत्कार जुड़ गए हैं । परन्तु कृष्ण कोई साधारण व्यक्ति नहीं था । ---- मैंने कृष्ण-चरित्र को चमत्कारों से अलग करके देखा है । धर्मगुरु लोग तो शायद इसे नहीं सह सकेंगे, उनसे मैं क्षमा मांगता हूं, परंतु जैसे जो महानता कृष्ण के मनुष्य रूप में प्रकट होती है वह वैसे नहीं मिलती, चमत्कारों में सत्य डूब जाता है ।"[2]

इस प्रकार कृष्ण का जीवन-चरित्र ही प्रस्तुत उपन्यास की महत्वपूर्ण सृष्टि है, जिसके लिए लेखक ने महाभारत श्रीमद्भागवत एवं उपनिषदों का सहारा लिया है । कृष्ण के अतिरिक्त इस उपन्यास में अनेक पात्रों की भीड़-सी इकट्ठी कर दी गयी है । इतने छोटे कलेवर में ढेर सारे पात्र हैं । पुरुष पात्रों में नन्दगोप, उग्रसेन कंस, देवक, जरासंध, जयाश्व, अक्रूर, समठ सुलोग, श्रुतायुद्ध, वात्स्क, बलराम, नप्तक, पाणिमान वृहत्सेन इत्यादि मुख्य हैं । नारी-पात्रों में यशोदा देवकी, रोचना, वर्तुला, राधा, सुभद्रा, रोहिणी,

अस्ति प्राप्ति, कुब्जा इत्यादि प्रमुख हैं । इतने अधिक पात्रों की भीड़ में कृष्ण को छोड़कर, अन्य प्रमुख पात्र खो गये हैं । अधिकांशत: पात्रों से मात्र परिचय-प्राप्त ही होता है और वे बिना प्रभाव डाले ही चले जाते हैं । कृष्ण के अतिरिक्त दो-एक पात्र हमारे मस्तिष्क पर अपनी अमिट छाप अंकित करने में समर्थ हो सके हैं । एक, देवकी की माता, और कंस का अत्याचारी रूप । देवकी का उज्ज्वल ममतापूर्ण चरित्र बहुत प्रभावकारी बन पड़ा है ---

"उस अबोध को क्या मालूम कि उसकी जननी कौन है ? वहां वह सुखी है यही मेरे लिए बहुत है । उसे राज्य के कुचक्रों में न लाओ, आर्य । वह मुझ अभागिनी को जानता ही कहां है ? यशोदा ने उसे अपना दूध पिलाकर पाला है । मैं उसे छीनना नहीं चाहती आर्य । उसने अपनी पुत्री को मेरे पुत्र के लिए बलिदान में न्यौछावर कर दिया था । कितना विशाल हृदय है उसका । मेरे पास क्या था जो उसे पालती वह यशस्वी बने तो यशोदा ही उसका सुख भोगे । मैं तो बस सुन लूं । और कुछ नहीं चाहती ।"[3]

इसी प्रकार कंस के दुराचारी रूप का वर्णन भी लेखक की सशक्त लेखनी के माध्यम से हुआ है । वास्तव में कृष्ण और कंस का संघर्ष ही इस कृति का मूल उद्देश्य है । मानवता और दानवता, नीति और अनीति का संघर्ष प्रस्तुत किया गया है । जयाश्व के मुख से लेखक ने कंस के अत्याचारों की तस्वीर खींची है :---

"कुत्ते में ज्ञान नहीं होता, किन्तु तू कुत्ते से भी जघन्य है, पापी । नराधम । अंधक - कुलांगार । तूने शौरसेन देश को जरासंध की पुत्रियों के कहने से दासता के बंधन में जकड़ दिया है । तूने अनार्य दैत्य, दानव, असुर, नाग और राक्षसों से मित्रता करके धन और सम्पत्ति के लिए कुल और गण का नाश कर दिया । भोज के पवित्र वंश को तूने ठोकर मारी है, नीच । तूने यादवों की पवित्र कुमारियों पर बलात्कार किए हैं , तूने कृषकों से छठे भाग से भी अधिक कर लिया है, तूने व्यापारियों को लूटा है, तूने कर्मकरों को कुचला है । तूने

यादव, स्वतंत्रता को मागधों के पैरों के नीचे रुंदवा दिया है ।'[4]

इन पात्रों के माध्यम से लेखक ने तत्कालीन युग-जीवन को भी साकार करने का प्रयास किया है । युगीन परिस्थितियों के ही माध्यम से लेखक ने कृष्ण के जननायकत्व को उभारा है । तद्युगीन सामाजिक स्थिति को चित्रित करने में लेखक ने कुछ भी कसर नहीं छोड़ी । समाज उच्च और निम्न दो वर्णों में बंटा था किन्तु उच्च वर्णों की निरंकुशता का विरोध धीरे-धीरे होने लगा था :---

'जयारव ने कहा, ' आर्य्य ! अब तो शूद्र अपने को समाज का अंग मानते हैं । परन्तु वे कुछ असन्तुष्ट हैं और दासों के पीछे, भूमि के पीछे, सभी के पीछे सारी शक्तियां उन्मत्त होती जाती हैं ।'[5]

कृष्ण को इन्हीं जातिगत भेदों को दूर करने का प्रयास करते दिखाया गया है :---

'---वह तो मानता है कि चार वर्ण हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र । बाकी जातियां भी वैसी ही हैं । फिर मनुष्य-मनुष्य समान है । अपने - अपने वर्ण का काम करो, परन्तु निरंकुश कोई न बनो ।'[6]

स्त्रियों की स्थिति अच्छी नहीं थी । वे मात्र भोग की वस्तु समझी जाती थी । कंस ने न जाने कितनी स्त्रियों का अस्तित्व हरण किया था । बहु-विवाह की प्रथा थी । एक व्यक्ति अनेक पत्नियां रख सकता था । आर्य वसुदेव ने देवकी से पहले तेरह स्त्रियों से विवाह किया था । स्त्री-पुरुष के बदलते सम्बन्धों को बड़ी कुशलता से उभारा गया है । कृष्ण का अनेक गोपियों से संबंध इसका उदाहरण है ।

तत्कालीन दास-प्रथा को लेखक की लेखनी ने अत्यंत सजीवता से अंकित किया है :---

'व्यूठोरा और त्यैटिका के सारे कोने घिस चुके थे । उन्हें लज्जा ही नहीं र[illegible] थी । वे कंस के प्रासाद में वहां के दासों तक के पौरुष का परिचय प्राप्त कर चुकी थीं क्योंकि वे इसके अतिरिक्त जैसे सब कुछ भूल चुकी थीं । उनकी संतान प्राय: प्रति तीसरे वर्ष बेच दी जाती थी और उनको ऐसी आदत पड़ गई थी कि

वे उस शोक को भी मनाना भूल गईं थी ।"[7]

तत्कालीन राजनैतिक संघर्षों पर लेखक की लेखनी बहुत चली है । राष्ट्रनीति की बहुत ही सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है :---

"राष्ट्रनीति और बालक को प्रसव देना, दो भिन्न बातें हैं । पहली में बोलने की आज्ञा नहीं, दूसरी में चाहे जितना चिल्ला सकती हैं ।"[8]

गणतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली की समस्याओं को भी यथा-स्थान उठाया गया है ।

शिल्पगत दृष्टि से प्रस्तुत कृति प्रेमचन्दीय किस्सागोई शैली का अनुसरण करती है । जहाँ तक कथ्यजन्य प्रवाह का प्रश्न है उस दृष्टि से भी सम्पूर्ण कृति धारा-प्रवाहिक है । कृष्ण के जीवन से संबंधित मुख्य घटनाओं को क्रमानुसार प्रस्तुत किया गया है । घटनाएं शृंखला की कड़ियों की भांति परस्पर सम्बद्ध हैं "लोई" का ताना " की भांति विशृंखल नहीं । उपन्यास में सरसता हेतु अनेक मार्मिक स्थलों को पात्रों की स्मृतियों पर आधारित किया है जैसे कंसवध का वर्णन अस्ति मगध जाते समय रथ पर ही करती है ।

जहाँ तक कृति की भाषा का सवाल है यह कहने में हमें संकोच नहीं कि वर्णन चाहे अपनी या अन्य पात्र की मन:स्थितियों का हो या किसी वस्तु या स्थान का, लेखक की भाषा कहीं भी लड़खड़ाती प्रतीत नहीं होती । भाषा सर्वत्र सशक्त है । वह सर्वत्र कम पर चुने हुए शब्दों का प्रयोग करता है । कम से कम कहकर वह अधिक से अधिक प्रभाव पैदा करने की कोशिश करता है । भाषा सर्वत्र एकरस है कहीं भी व्यवधान नहीं उत्पन्न होने पाया है । इसके अतिरिक्त वह अपनी कारीगरी और नक्काशी में एकदम पूरी है । अंकन में अन्विति और अलंकरण दोनों का सौन्दर्य आ गया है । अलंकार-प्रयोग के प्रति लेखक की लेखनी विशेष सजग रही है :---

"प्रतिहिंसा के केहरी "[9]

"कुररी के समान रोती हुई ।"[10]

"पहले उसके विचारों की गति एक भीड़ के समान थी, जिसमें समुद्र की

तरंगों की भांति विचार आपस में हिल-मिल जाते थे ।"[11]

"आर्य देवक और जयाश्व के नेत्रों में पानी भर आया किन्तु वसुदेव गंभीर बैठे रहे । उनके मस्तक पर जैसे चिंता, फिर विचार रूपी दुर्ग में प्रवेश करने के लिए दस्तक दे रही थी, धीरे-धीरे द्वार को थपथपा रही थी ।"[12]

"वह (देवकी) सिंधु तरंगों को पराजित करके मुस्कराने वाली सिकता की अतृप्त स्पर्धा थी ।"[13]

"---नर्तकी की देहयष्टि फूलने लगी और कंस के भीतर उसकी प्रभूत तृष्णा बार-बार जाग रही थी, जैसे वह एक पर्वत था और नृत्यमग्ना सुन्दरी एक मचलती हुई नदी, जो पर्वत से टकराकर कहीं गुणा प्रचण्ड होकर गूंजती चली जाना चाहती हो ।"[14]

"बाँहें कुछ खिंच गई थीं, जैसे आकाश में उड़ती चील ने अपने पंख साध दिए थे ।"[15]

"अक्रूर ने विषधर सर्प की भांति फूत्कार किया था ।"

लेखक की शब्दावली तत्समप्रधान है । कहीं-कहीं लेखक ने कठिन से प्रतीत होने वाले शब्दों का कोष्ठकों में तद्भव रूप भी दे दिया है । जैसे :---

"उत्तेजित होने की आवश्यकता नहीं है आर्य । समय आने दीजिए । कंस प्रबल है । अहेरी जब शल्की (सेंही) को शल्यों (सेतों) में मारता है तो उसके कांटों का ध्यान रखकर उसे हाथों से नहीं पकड़ लेता , उसके लिए दण्ड (डंडे) का प्रयोग करता है । आप भी उसी प्रकार अपनी बुद्धि और उसके कौशल का प्रयोग कीजिए देव ।"[16]

इसी प्रकार की कठिन तत्सम शब्दावली सम्पूर्ण उपन्यास में स्थान-स्थान पर प्रयुक्त की गई है । कहीं-कहीं समास-वाक्यों के साथ-साथ तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग शैली को एक विशिष्टता प्रदान करता है । लेखक की भाषा की एक और विशिष्टता है छोटे-छोटे वाक्यों की रचना । लम्बे वाक्यों के बजाय उन्होंने छोटे वाक्यों का अधिक प्रयोग किया है । इससे भाषा की अर्थपूर्णता बढ़ गई है । लेखक के छोटे-छोटे वाक्य वातावरण अथवा परिस्थिति का चित्र साकार करने की क्षमता रखते हैं :---

'सहदेवा लौट आई । खीर का पात्र साथ था । बाकी पात्र दासियों के हाथ में थे । खीर परोसी जाने लगी । गर्म-गर्म भाप उड़ी थी । गंध आ रही थी । चावल फूल गए थे ।'[17]

इसी चित्र-विधायिनी वर्णनात्मकता के दर्शन उपन्यास के शुरू में भी हो जाते हैं :---

'गोधूलि में लौटती हुई गायों के गले में लटकाई गई घंटियां बजने लगीं । गोकुल के पक्के और कच्चे घरों के द्वारों पर अगरुधूम जलने लगा था और कहीं-कहीं से मंत्रोच्चारण की ध्वनि आ रही थी । ब्राह्मण संध्योपासना की क्रियाओं में लगे हुए थे । गोपों के घरों में गायों की सेवा और दुहने का काम हो रहा था । स्त्रियों के भारी चूड़े आपस में टकराकर शब्द कर उठते थे ।'[18]

कोई भी शब्द, वाक्य व्यर्थ प्रयुक्त नहीं हुआ है । लेखक ने छोटे वाक्यों के प्रयोग द्वारा जहां भाषा को सुगम्य एवं अर्थपूर्ण बना दिया है, वहां अधूरे वाक्यों की सहायता से वे पात्र के भीतरी आर्तनाद और उसकी उलझी हुई संवेदनाओं को व्यक्त कर सके हैं ।

यही नहीं व्यंग्य-विधान में भी लेखक की लेखनी पीछे नहीं रही । उपन्यास में तीन-चार स्थल ऐसे आते हैं जहां लेखक ने हास्य-रस का भी संचार किया है :---

'भद्रबाहा ने कहा, ' अरे लो ! मैं तो रुक ही गई । घर तमाम काम पड़ा है । मेरी सास गायें खुली ही होंगी ।'

कृष्ण ने टोककर कहा, ' मैं प्रातः सुमुख से कहूंगा कि तुमने उन्हें आज बैल कहा है ।

भद्रबाहा जाते-जाते कहती गई, 'कह दीजो । मैं डरती नहीं । पर याद रख । तू नाते में उनका भाई लगता है ।'[19]

लेखक की भाषा की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन्होंने जीवन के सूत्रकार के नाते मानव-जीवन के गम्भीर तथ्यों को सूत्रों में बांधने का प्रयास किया है । जीवन-तथ्यों का उद्घाटन करते हुए उनकी भाषा

विचारों को कुरेदती हुई आगे बढ़ती जाती है । उदाहरणतया :---

"सन्देह एक ऐसी वस्तु है जो भय उत्पन्न करती है । साँप चला जाए परन्तु फिर भी लगता है कि कहीं छिपा हुआ न हो ।"[20]

"माँ और पुत्र के बीच व्यवधान - कहनी - अनकहनी का भेद तब आरंभ होता है जब पुत्र के जीवन में कोई नयी स्त्री आती है ।"[21]

"भक्ति की मर्यादा होनी चाहिए ।"[22]

"अत्याचारी के सम्मुख सिर झुकाकर निर्बलता दिखाने से उसका अहंकार और भी अधिक बढ़ता है ।"[23]

"जहाँ के स्त्री-पुरुष कर्तव्य के लिए सब कुछ न्यौछावर करना जानते हैं, वहाँ अधिकार बलिदान बनकर समर्पण करते हैं, वहाँ सत्य कभी कुचला नहीं जा सकता ।"[24]

"वृक्षों पर छा जाने वाली अमरबेल जड़े जमाने के लिए धरती नहीं खोजती, वह उन्हीं पेड़ों को खा जाती है, जिनपर वह आश्रय लेती है --- इसलिए उसे बढ़ने से पहले ही नष्ट कर देना चाहिए ।"[25]

"विश्वास तो एक नौका है, उसे सदैव परिस्थिति की लहरों के झटके लगा करते हैं ।"[26]

इन युक्त-कथनों के अतिरिक्त लेखक ने मुहावरों का भी प्रयोग किया है । बल्कि यों कहना चाहिए कि अनायास ही हो गया है :---

"रोंगटे खड़े होना, मुँह उतरना, मुँह फेरना, आग में घी डालना इत्यादि ।

इस प्रकार लेखक की अंकन-कला अपनी नक्काशी एवं कारीगरी में एकदम पूरी उतरती है । आलंकारिकता एवं चित्रात्मकता उसकी अंकन-कला के मुख्य गुण हैं । यदि इस कृति को प्रामाणिकता की कसौटी पर कसें तो भी यह एक प्रामाणिक जीवन-चरित्र प्रस्तुत करने श्रीमद्भागवत एवं उपनिषदों पर आधारित है । इसलिए उपन्यास के प्रमुख पात्र एवं घटनाएं पुराण-सम्मत हैं ।

इन दोनों ही कृतियों के माध्यम से लेखक ने तद्युगीन सीमाओं के मध्य मानवता के विकास में धार्मिक- सांस्कृतिक अवदानों का, समाज और धर्म

के बहुत सम्बन्धों का मूल्यांकन किया है - इस दृष्टि से इन कृतियों का महत्व और भी बढ़ जाता है ।

--00000--

पाद टिप्पणियां :

1. देवकी का बेटा , पृष्ठ 5 ।
2. -वही- पृष्ठ 6 ।
3. -वही- पृष्ठ 79 ।
4. -वही- पृष्ठ 25 ।
5. -वही- पृष्ठ 69 ।
6. -वही- पृष्ठ 86 ।
7. -वही- पृष्ठ 43 ।
8. -वही- पृष्ठ 73 ।
9. -वही- पृष्ठ 30 ।
10. -वही- पृष्ठ 29 ।
11. -वही- पृष्ठ 22 ।
12. -वही- पृष्ठ 36 ।
13. -वही- पृष्ठ 37 ।
14. -वही- पृष्ठ 39 ।
15. -वही- पृष्ठ 95 ।
16. -वही- पृष्ठ 25 ।
17. -वही- पृष्ठ 22 ।
18. -वही- पृष्ठ 7 ।
19. -वही- पृष्ठ 11 ।
20. -वही- पृष्ठ 15 ।
21. -वही- पृष्ठ 12 ।
22. -वही- पृष्ठ 16 ।
23. -वही- पृष्ठ 36 ।
24. -वही- पृष्ठ 37 ।
25. -वही- पृष्ठ 57-58 ।
26. -वही- पृष्ठ 75 ।

# चौथा अध्याय

## उपसंहार

## चौथा अध्याय

## उपसंहार

डा० रागेय राघव अकेले ऐसे कथाकार हैं, जिन्होंने महान् व्यक्तियों की जीवन-दशा और दिशा को अभिव्यक्ति दी है । उपन्यास के रूप में व्यक्ति-विशेष के जीवन को रचनात्मक स्तर पर समझने का जैसा और जितना प्रयास डा०राघव ने किया है, वह हममें यह विश्वास जगाता है कि बिना कृतिकार या महान् व्यक्ति की पहचान के उसकी कृति और उसके महत्कृत्यों को नहीं समझा जा सकता ।

डा० राघव प्रगतिवादी साहित्यकार हैं । अपने इन जीवनीपरक उपन्यासों में भी वे प्रगतिवादी-भावना से प्रेरित रहे हैं । इन कृतियों में उनकी प्रगतिवादी विचारधारा मानवतावादी लक्ष्य की ओर उन्मुख रही है । डा० राघव का उद्देश्य इन जीवनीपरक-उपन्यासों के माध्यम से आज के समाज के ऐतिहासिक विकास के परिप्रेक्ष्य में अपनी प्राचीन सांस्कृतिक-निधि का परीक्षण करना है । डा० राघव के मत में हमें सम्पूर्ण पुरातन का विरोध न कर केवल उसके प्रतिक्रियावादी तत्वों का विरोध करना चाहिए । इसी आधार पर उन्होंने कबीर आदि संत कवियों का मूल्यांकन करते हुए उन्हें प्रगतिशील सिद्ध किया, क्योंकि उनके साहित्य में युग-जीवन की समस्याएं मुखरित हुई हैं ।

डा० राघव के इन जीवनीपरक-उपन्यासों में जो मुख्य विशेषता ध्यान आकर्षित करती है वह है इन उपन्यासों का प्रस्तुतीकरण । ये सातों उपन्यास कथा-प्रस्तुतीकरण के बेमिसाल नमूनों के रूप में सामने आये हैं । जैसे 'लखिमा की आखें' में विद्यापति के जीवन का प्रस्तुतीकरण ब्राह्मण-यात्री की स्मृतियों के आधार पर किया गया है, 'लोई का ताना' में कबीर का जीवन कबीर के ही पुत्र कमाल के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है, 'रत्ना की बात' में

तुलसी स्वयं अपने जीवन-वृतान्त का चिन्तन करते दिखाये गये हैं। 'यशोधरा जीत गई' का प्रस्तुतीकरण बुद्ध के आत्मचिंतन से शुरू होता है तथा 'भारती का सपूत' में भारतेन्दु की जीवनी प्रस्तुत करने के लिए अध्यापक रत्नहास की कल्पना की गई है। 'मेरी भवबाधा हरो' में बिहारी का जीवन-वृतान्त, 'देवकी का बेटा' में श्रीकृष्ण का जीवन प्रेमचन्दीय किस्सागोई शैली में प्रस्तुत है। इस प्रस्तुतीकरण प्रणाली से जहां उपन्यासों में रोचकता का संचार हुआ है, वहीं इनकी सजीवता में भी किसी प्रकार की कमी नहीं आने पाई है।

ये जीवनीपरक उपन्यास जीवन-चरित्र के साथ-साथ युगीन दस्तावेज भी हैं। व्यक्ति-विशेष के चरित्र को उसके युगीन-सन्दर्भों में विकसित होता दिखाया गया है। इससे तद्युगीन सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का भी परिचय प्राप्त होता गया है। साथ ही इनमें वर्तमान का संगीत भी सुनाई पड़ता है। लेखक की प्रगतिवादी विचारधारा ने प्राचीन प्रसंगों के वर्णनों के क्रम में वर्तमान सामाजिक समस्याओं पर प्रहार किया है। इन कृतियों के माध्यम से लेखक ने उस 'समय' की वाणी दी है जो गुजर चुकने पर भी गुजर रहे से असम्बद्ध नहीं है।

साहित्यिक पुरुषों की जीवनियों पर आधारित पांचों उपन्यासों के माध्यम से जहां एक ओर विद्यापति, कबीर, तुलसी, बिहारी और भारतेन्दु के जीवन-वृतान्त उजागर हुए हैं वहीं दूसरी ओर सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य-इतिहास के चारों-काल आदिकाल, भक्तिकाल (सगुण भक्तिधारा और निर्गुण भक्तिधारा) रीतिकाल एवं आधुनिककाल की मुख्य प्रवृत्तियां एवं परिस्थितियां भी स्पष्ट हो गई हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास-दर्शन की दृष्टि से इन पांचों कृतियों का महत्व और भी बढ़ जाता है।

लेखक ने इन सभी जीवनीपरक उपन्यासों में व्यक्ति-विशेषों का प्रामाणिक जीवन-वृतान्त प्रस्तुत किया है। व्यक्ति-विशेष के जीवन से संबंधित तथ्यों की पूर्ण रक्षा हुई है। जीवन-चरित्र को रोचक बनाने हेतु लेखक ने अपनी कल्पना शक्ति का भी प्रयोग किया है, किन्तु वहीं तक जिससे कि जीवन-चरित्र की

प्रामाणिकता नष्ट न होने पाये । लेखक की कल्पना पंखविहीन कल्पना है । उसकी कल्पना के पैर ज़मीन पर ही जमे रहे हैं । उन्मुक्त उड़ान भरने में लेखक की लेखनी विवश रही है । चूंकि ये कृतियां पहले जीवनी हैं, बाद में उपन्यास अतएव लेखक को एक साथ ही जीवनीकार और उपन्यासकार के दायित्वों का पालन करना पड़ा है । लेखक के उपन्यासकार का रूप उनके जीवनीकार के रूप का सहयोगी बनकर आया है, उस पर छावी नहीं होने पाया । यही कारण है कि इन जीवनीपरक उपन्यासों की प्रामाणिकता उपन्यासत्व के चक्कर में नष्ट नहीं होने पाई ।

इन जीवनीपरक उपन्यासों के अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि लेखक का दृष्टिकोण नारी के प्रति सहानुभूतिपूर्ण है । उनकी प्रगतिवादी विचारधारा नारी-जागरण का नारा बुलन्द करती प्रतीत होती है । यही कारण है कि लेखक ने 'लखिमा की आँखें' में विद्यापति के साथ-साथ लखिमा 'लोई का ताना' में कबीर के साथ-साथ लोई 'रत्ना की बात' में तुलसी के साथ- रत्ना, 'यशोधरा जीत गई' में गौतम बुद्ध के साथ यशोधरा और 'देवकी का बेटा' में श्रीकृष्ण के साथ देवकी के चरित्र को भी वाणी प्रदान की है । कृतियों के नामकरण भी इन्हीं नारी-चरित्रों के नामों पर किये हैं ।

इन उपन्यासों के रूप में लेखक ने शिल्प-प्रयोग के ऐसे उदाहरण सामने रखे हैं जिसका महत्व केवल इस बात में है कि यह जीवनीपरक उपन्यासों के सर्वथा अनुरूप शिल्प हैं । ये सशक्त कथाकृतियां औपन्यासिक संरचना-शिल्प के नये प्रतिमानों के रूप में हिन्दी-उपन्यास की नयी दिशा की सूचक हैं ।

इस विषय में कोई विवाद नहीं कि इन जीवनीपरक उपन्यासों का अपना विशिष्ट स्थान है किन्तु खेद की बात है कि इनके मूल्यांकन को लेकर हिन्दी-उपन्यास साहित्य में कोई संतुलित और स्पष्ट मंतव्य नहीं बन सका है । जितनी चर्चा और ख्याति नागर जी को उनके एक ही जीवनीपरक-उपन्यास 'मानस का हंस' के माध्यम से मिली, उतनी डा० राघव को उनके इन सात उपन्यासों के माध्यम से भी नहीं मिली ।

फिर भी, इतना तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि अभी तक कोई अन्य कृतिकार डा० राघव का स्थान नहीं ले सका है। डा०राघव की ये कृतियां अपनी विशिष्टता में ज्यों की त्यों अपने स्थान पर अवस्थित हैं और कोई दूसरी कृति उनका स्थान अभी तक नहीं ले पाई है। हिन्दी-उपन्यास के इतिहास में राघव का नाम केवल उनके इन जीवनीपरक उपन्यासों को लेकर भी अमर रहेगा -- इसमें दो मत नहीं हो सकते।

--00000--

# सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

# सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

## (सहायक हिन्दी ग्रंथ सूची)


1. आज का हिन्दी उपन्यास; डा० इन्द्रनाथ मदान, प्रथम संस्करण, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।
2. हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास : डा० सुरेश सिन्हा, प्रथम संस्करण, 1965, अशोक प्रका०, दिल्ली ।
3. हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा : डा० रामदरश मिश्र, प्रथम सं०, 1968, राजकमल प्रका०, दिल्ली ।
4. हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियां : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रथम सं०, 1970, राधाकृष्ण प्रका०, दिल्ली ।
5. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद : डा० त्रिभुवन सिंह, चतुर्थ सं०, 1965, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी ।
6. हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण : महेन्द्र चतुर्वेदी प्र० सं०-1962, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।
7. हिन्दी उपन्यास : डा० सुषमा धवन, प्रथम संस्करण-1961, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।
8. ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार : डा० गोपीनाथ तिवारी,
9. ऐतिहासिक उपन्यास में सत्य और कल्पना : डा० वी० एम० चिन्तामणि ।
10. हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास : डा० रामनारायण सिंह मधुर, प्रथम सं०-1971, ग्रंथम प्रकाशन, कानपुर ।
11. हिन्दी कथा साहित्य : पद्मलाल पुन्नालाल बख्शी, प्रथम सं०-1954, बम्बई ।
12. अधूरे साक्षात्कार : नेमिचन्द्र जैन, प्रथम संस्करण- 1966, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली ।

13. हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास : डा० रणवीर रांग्रा, प्रथम संस्करण, 1961, भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली ।

14. हिन्दी उपन्यास की शिल्पविधि का विकास : डा० श्रीमती ओम शुक्ल, प्र० सं०- 1964, अनुसंधान प्रका०, कानपुर ।

15. प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि : सत्यपाल चुघ।

16. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल , संशोधित और परिवर्धित संस्करण, 1945, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

17. साहित्य का उद्देश्य : प्रेमचन्द, 1954, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद ।

18. कुछ विचार; प्रेमचन्द ।

19. काव्य के रूप : गुलाबराय , छठा संस्करण, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली ।

20. कवि की दृष्टि : डा० भारतभूषण अग्रवाल, मैकमिलन, दिल्ली ।

21. डा० राँगेय राघव, उपन्यास : मेरी मान्यताएं : डा० देवराज उपाध्याय, प्रथम संस्करण, 1967, राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर ।

22. डा० राँगेय राघव और उनके उपन्यास : डा० लाल साहब सिंह, प्रथम संस्करण-1972, अनुपमा प्रकाशन, बंबई ।

23. हिन्दी जीवनी साहित्य-सिद्धान्त और अध्ययन : डा० भगवानशरण भारद्वाज ।

24. हिन्दी साहित्य में जीवन चरित का विकास : डा० चन्द्रवती सिंह, 1958, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद ।

25. हिन्दी का जीवनी-परक साहित्य; डा० शान्ति खन्ना ,

26. विद्यापति डॉ० शिवप्रसाद सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

27. कबीर ग्रन्थावली : सं० श्यामसुन्दरदास, सं०-2008, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

28. कबीर साहित्य की परख : : आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, तृतीय संस्करण, 1972, भारती भण्डार, इलाहाबाद ।

29. कबीर : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ।

30. गोस्वामी तुलसीदास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सं0 2008, नागरी प्र0 सभा, काशी ।

31. गोस्वामी तुलसीदास : श्यामसुन्दरदास और पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, 1952 ई0, हिन्दुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद ।

32. तुलसीदास : डा0 माताप्रसाद गुप्त, 1953 ई0, हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय ।

33. कवितावली : तुलसीदास, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

34. हनुमान बाहुक : तुलसीदास, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

35. बिहारी : सम्पादक डा0 ओम प्रकाश।

36. भारतेन्दु युग : डा0 रामविलास शर्मा, युगमन्दिर, उन्नाव ।

37. भारतेन्दु : डा0 मदन गोपाल ।

38. भारतेन्दु ग्रन्थावली : जगन्नाथदास रत्नाकर, नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस ।


## सहायक अंग्रेजी ग्रंथ सूची


1. आस्पेक्टस आफ द नावेल; ई0 एम0 फार्स्टर, 1944, लंदन ।

2. आस्पेक्टस आफ बायोग्राफी : आन्द्रे मारवा, 1929, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन ।

3. लिट्रेचर एण्ड रियलिटी : हावर्ड फास्ट ।

## सहायक कोश सूची


1. मानक हिन्दी कोश : सं० रामचन्द्र वर्मा, प्रथम संस्करण, सं० 2019 विक्रमी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।
2. हिन्दी साहित्य कोश : सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा, द्वितीय संस्क०, सं० 2020 विक्रमी, ज्ञानमण्डल लि०, वाराणसी ।


## सहायक पत्रिका सूची


1. आलोचना (त्रैमासिक) : 31 जुलाई, 1964, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-6 ।
2. साहित्य सन्देश : जनवरी-फरवरी 1963 (रांगेय राघव स्मृति अंक)
   जुलाई-अगस्त 1956 ( आधुनिक उपन्यास अंक)
   साहित्य रत्न भण्डार, आगरा ।
3. धर्मयुग : नेमिचन्द्र जैन, 15 सितम्बर 1963, टाइम्स आफ इंडिया प्रकाशन, बम्बई ।
4. हिन्दुस्तान : शक्ति त्रिवेदी, 21 जनवरी, 1968, हिन्दुस्तान टाइम्स प्रकाशन, दिल्ली ।


## सहायक उपन्यासों की सूची


1. त्याग पत्र : जैनेन्द्र कुमार ।
2. झांसी की रानी : वृन्दावन लाल वर्मा ।
3. बाणभट्ट की आत्मकथा : हजारी प्रसाद द्विवेदी ।
4. शेखर एक जीवनी (भाग 1,2): अज्ञेय ।
5. मानस का हंस : अमृतलाल नागर ।
6. गोदान, निर्मला, गबन : प्रेमचन्द ।
7. बूंद और समुद्र : अमृतलाल नागर ।

| | | | |
|---|---|---|---|
| 8. | मैला आंचल | : | फणीश्वर नाथ रेणु । |
| 9. | चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता सन्तति, भूतनाथ | : | देवकीनन्दन खत्री । |
| 10. | चांदनी के खण्डहर | : | गिरधर गोपाल । |
| 11. | सोया हुआ जल | : | सर्वेश्वर दयाल । |
| 12. | सूरज का सातवां घोड़ा | : | धर्मवीर भारती । |
| 13. | बलती गंगा | : | शिवप्रसाद मिश्र रुद्र |
| 14. | कथाचक्र | : | पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी । |
| 15. | बाबा बटेसरनाथ | : | नागार्जुन । |
| 16. | खाली कुर्सी की आत्मा | : | लक्ष्मीकांत वर्मा । |
| 17. | प्रेत बोलते हैं | : | राजेन्द्र यादव । |

## डा० राघेय राघव के उपन्यासों की सूची

1. आखिरी आवाज, चौथा संस्करण, 1968, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली ।
2. अन्धे का गीत ।
3. अन्धेरे की भूख ।
4. अन्धेरे के जुगनू ।
5. आग की प्यास ।
6. आंधी की नींवें ।
7. उबाल, प्रथम संस्करण, 1968, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली ।
8. कल्पना, चौथा संस्करण, 1968, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली ।
9. कब तक पुकारूं : तीसरा संस्करण, 1967, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली ।
10. काका : 1963, आत्माराम एण्ड सन्स ।
11. कुम्हार की भूल ।
12. घरौंदा : द्वितीय संस्करण, 1969, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली ।
13. चीवर ।
14. छोटी-सी बात : हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली ।

15. जब आवेगी काल घटा ।
16. दायरे ।
17. देवकी का बेटा ।
18. धूनी का धुंआ ।
19. धरती मेरा घर, चौथा संस्करण, 1970, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली ।
20. नवाब के वारिस ।
21. पक्षी और आकाश, पांचवां संस्करण 1968, राजपाल एंड संस, दिल्ली ।
22. पथ का पाप : द्वितीय संस्करण, 1970, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली ।
23. पत्थर ।
24. पराया ।
25. पांच गधे ।
26. प्रतिदान ।
27. प्रोफेसर:चौथा संस्करण, 1969, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली ।
28. बन्दूक और वीन ।
29. बोलते खण्डहर : प्रथम संस्करण, 1976, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली ।
30. बौने और घायल धूल ।
31. भारती का सपूत ।
32. महायात्रा गाथा : प्रथम संस्करण, 1960, किताब महल, इलाहाबाद ।
33. मुर्दों का टीला : तृतीय संस्करण 1963, किताब महल, इलाहाबाद ।
34. मेरी नवबाधा हरो ।
35. यशोधरा जीत गई ।
36. रत्ना की बात ।
37. राह न रुकी ।
38. राहें और पर्वत : पांचवां संस्करण, 1967, राजपाल एंड संस, दिल्ली ।
39. लक्ष्मा की आखें ।
40. लोहे का ताना ।

41. विषाद मठ : पहला संस्करण, 1973, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली ।
42. सीधा सादा रास्ता ।
43. हुजूर : पहला संस्करण 1976, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली ।
44. संसार के महान उपन्यास ।